॥ ॐ ॥

वैदिक-ब्रह्म-विचार









श्री दण्डीस्वामी रामतीर्थजी

वेदकी आज्ञा



स	त्यं	व	द
ध	र्मं	च	र
मातृ	देवो	भ	व
पितृ	देवो	भ	व
आचार्य	देवो	भ	व
अतिथि	देवो	भ	व

सच बोलो। भला ही करो। माताकी सेवा करो।
पिताकी सेवा करो। गुरुकी सेवा करो। अतिथिकी सेवा करो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

सब सुखी हों सब रोग रहित हों।
सब भला ही देखें, कोई भी दुखी न हो॥


वैदिक उपास्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ
ॐ





॥ ॐ ॥

वैदिक-ब्रह्म-विचार





लेखकः—

श्रीदण्डीस्वामी रामतीर्थजी

निवास स्थान :—

सर्दी में:— मन्दिर सोनियां पुराना बाज़ार, लुधियाना।

गर्मी में:— रामभवन भूपतवाला, हरिद्वार।

प्रकाशक तथा विक्रेता:—

पं० अमोलकराम ज्योतिषी

मन्दिर सोनियां, पुराना बाज़ार, लुधियाना।

मूल्य ७५ नये पैसे

सम्मति

वैदिक धर्म (मासिक)

स्वाध्याय मंडल (पारडी) जिला सूरत। अक्टूबर १९६१।

वैदिक-ब्रह्म-विचार लेखक–दण्डी स्वामी श्री रामतीर्थजी।

भारत सदियोंसे अध्यात्मज्ञानका केन्द्र रहाहै। यहां अनेकों दार्शनिक सन्तोंने जन्म लिया। उसीका फल यह हुआ कि भारतमें दर्शनकी विभिन्न विचारधाराएं प्रवाहित हुईं। शंकरके अद्वैतवाद, रामानुजके विशिष्टाद्वैतवाद, माधवाचार्यके द्वैतवाद, और महर्षिके त्रैत्ववाद इन सभी वादोंने भारतीय दर्शनोंकी पृष्ठभूमिको परिपुष्ट किया। परन्तु इन वादोंमें फंसा हुआ एक जिज्ञासु किस वादको अंगीकार करे यह एक बड़ी भारी समस्या उसके सामने आजातीहै। प्रस्तुत पुस्तकमें श्री स्वामीजीने इसी विषयको दृष्टिमें रखा है। एक जिज्ञासुके मार्गमें जो भी शंकाएं संभव हैं, उन सभीका समाधान करनेका इस पुस्तकमें सफल प्रयास किया है। भारतीय दर्शनके क्षेत्रमें ऐसे शंका समाधान युक्त पुस्तकोंका वहुत अभावहै। जिसकी पूर्ति इस पुस्तकसे वहुत कुछ होसकतीहै। लेखक, शंकरके अद्वैतवादसे अधिक प्रभावित हुए दीखतेहैं। और शांकर वेदान्तका ही आधार लेकर ब्रह्मका विचार कियाहै। तथा दुरूह विषयको सरल बनानेका स्तुत्य प्रयास कियाहै। पुस्तक की भाषा सरल और सुवोधहै।



तीसरी वार भी १००० — फाल्गुन वि० २०१८, शाका सं० १८८३

मुद्रक:– मजदूर प्रिंटिंग प्रैस, छोटा दाल बाजार, लुधियाना।

दैनिक भारत

लीडर प्रेस, इलाहाबाद । ३-७-५६

वैदिक-ब्रह्म-विचार लेखक:— दण्डी स्वामी श्रीरामतीर्थजी ।

भारतमें अध्यात्मज्ञानकी विचारधाराएं दो रूपोंमें प्रवाहित हो-रहीहैं । एक पक्षकी धारणाहै कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म व्यापकहै और उसका लोकविशेष ब्रह्मलोक भी विद्यमानहै । दूसरी विचारधारा ब्रह्मको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, व्यापक तो मानतीहै परन्तु लोकविशेष ब्रह्मलोकको नहीं मानती । एककी मान्यता है कि जीव सच्चिदानन्द—ब्रह्मका अंश होनेसे सच्चिदानन्दस्वरूप ही है । परन्तु इसके विपरीत दूसरे का विचारहै कि जीव सच्चिदानन्दब्रह्मका अंश होनेपर भी सत् चित् रूप तो है किन्तु वह आनन्दरूप नहींहै । इसप्रकार की भिन्न २ विचारधाराएं हैं । जिनमें साधारण व्यक्तियोंकेलिए किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिनहै ।

विद्वान् लेखकने इसप्रकारकी शंकाओंका समाधान सफलता—पूर्वक इस पुस्तकमें कियाहै । दार्शनिक विषयों पर शंका-समाधानके सम्बंधमें इसप्रकारके महत्व-पूर्ण ग्रन्थोंका हिन्दीमें नितान्त अभावहै । फलत: इस पुस्तक से उक्त दिशामें इस अभावकी पूर्ति बहुत कुछ अंशोंमें हुई है । यद्यपि ऐसे व्यक्तियोंकेलिए जिनका आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रवेश नहींहै, यह पुस्तक अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होसकती । पुस्तक-में ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप, सगुणब्रह्म, उपास्यब्रह्म, प्राप्यब्रह्म, प्राज्ञात्मा ईश्वर=अन्तर्यामी, आदित्यात्मा ब्रह्म ईश्वर=अन्तर्यामी, अंशांशी ब्रह्म आदि पर विस्तार पूर्वक विचार कियागयाहै तथा दुरूह विषयको बोधगम्य एवं रोचक बनानेका प्रयत्न कियागयाहै। योगाभ्यासियों तथा विचारकोंकेलिए यह पुस्तक विशेष काम की हैं । पुस्तककी भाषा सरल एंव प्रवाह पूर्णहै ।

सम्मति

दण्डी संन्यासी श्री रामतीर्थजी की लिखी "वैदिक-ब्रह्म-विचार" नामक पुस्तक मैं ध्यान-पूर्वक देखगया हूं।

आपने इस बात पर विशेष बल दियाहै कि जो लोग 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें 'तत्' पदका वाच्यार्थ ईश्वर और लक्ष्यार्थ ब्रह्म तथा 'त्वं' पदका वाच्यार्थ जीव और लक्ष्यार्थ कूटस्थ आत्मा, एवं शुद्ध सत्त्वगुण मायासहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर सर्वव्यापक और समग्र सुषुप्ति तथा महाप्रलय ब्रह्मका कारण शरीर मानतेहैं। उनके मतमें सच्चिदानंद की मायातीत शुद्ध निर्गुण ब्रह्म अवस्था सिद्ध नहीं होती, किन्तु विशिष्टाद्वैत ब्रह्मरूप ही सिद्ध होताहै। इसलिये मनरूप इच्छारहित शुद्ध सत् =सच्चिदानन्दको 'तत्' पदसे और मन-सहित 'सत्' को 'त्वं' पदसे ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् तत् ब्रह्म है और त्वं जीव है। दृष्टांतमें 'तत्' सूर्य, मृत्तिका, सुवर्ण या लोह स्थानीय है। और 'त्वं' 'प्रतिविम्ब' घट, आभूपण या पिंड स्थानीयहै। तत् में त्वंका आरोप ऐसेहै जैसे राजकुमारमें भीलपनका या कुन्तीपुत्र कर्णमें राधेयका। शुद्ध सात्त्विक मनरूप इच्छासहित आदित्य-स्थानी सच्चिदानन्द अन्तर्यामी=ईश्वरहै। वह स्वरूपसे व्यापक नहीं, किंतु उसका ज्ञान व्यापक है या ज्ञानद्वारा स्वयं। सुषुप्ति तथा महाप्रलयकी आदिम-अंतिम अवस्थाएं सच्चिदानंद आत्माका कारणशरीर है और इन दोनों की मध्य अवस्था (गाढ़ अवस्था) सच्चिदानन्दकी शुद्ध अवस्था है।

लेखक महोदय की यह व्यवस्था मुझे मान्य है। क्योंकि ऐसा माननेसे सुषुप्ति और प्रलयको सच्चिदानन्दका कारणशरीर मानने-वाली तथा ब्रह्मरूप माननेवाली दोनों प्रकार की श्रुतियां चरितार्थ हो-जातीहैं।

जिस किसी विद्वान्को इस बात पर विप्रतिपत्ति हो वह अपने अभिप्रायको लिखितरूपमें सहर्ष प्रकट करसकताहै।

निगमानन्द परमहंस

निगम-निवास

निरंजनी अखाड़ा मार्ग, हरिद्वार। १।६।५६

भूमिका—

प्रिय पाठकगण। भारतमें अध्यात्मज्ञानकी विचारधाराएं पहले सेही दो रूपोंमें वहती आरहीहैं—और अबभी वहतीही जारहीहैं। इन-मेंसे एक पक्षकी धारणा यहहै कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म व्यापकहै और उसका लोकविशेष ब्रह्मलोकभी विद्यमानहै। परन्तु दूसरेका कथनहैकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म व्यापकहींहै, उसका लोकविशेष ब्रह्मलोक कहना यह मिथ्या प्रलापहै। एक यह मानरहाहै कि जीवकी अपने स्वरूपमें अवस्थान करनारूपी अर्थात् स्वस्वरूपावस्थिति विदेह-कैवल्यमुक्ति होतीहै। परन्तु दूसरेकी मान्यताहैकि जीवके संनिहित यानी अन्दरमेंही अन्तर्यामी ब्रह्महै अतः उसकी समीपता प्राप्त करनीही जीवकी मोक्षावस्थाहै इससे भिन्न विदेहकैवल्य नामकी कोई वस्तुही नहींहै। एकका सिद्धांतहैकि जीव, कर्म करनेमें स्वतंत्रहै और उसका फल भोगनेमें परतंत्रहै। परन्तु दूसरेका मतहैकि इसके समीप अन्तर्यामी ब्रह्म इसको कर्म करनेकेलिये प्रेरणाकरताहै, अतः यह कर्म करनेमेंभी स्वतंत्र नहींहै। एकने यह मानलियाहै कि जीव अंशी सच्चिदानन्द-ब्रह्मका अंशहोनेसे सच्चिदानन्द स्वरूपहीहै। परन्तु—इसके विपरीत दूसरेका विचारहैकि जीव अंशी सच्चिदानन्दब्रह्मका अंशहोनेपरभी सत् चित् रूप तो है, किंतु यह आनन्दरूप नहींहै। इसप्रकारकी भिन्न भिन्न विचारधाराहै। क्योंकि सन्देहके हेतु ऐसे मंत्र तथा श्रुतियां बनरहीहैं। जैसाकि मुण्डक उपनिषद् मुण्डक ३ का यह पहला मंत्रहै—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

यह मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद्के चौथे अध्यायमेंभीहै। इसमंत्र-का किसी २ विद्वान्ने ऐसा अर्थ कियाहैकि एकसाथरहनेवाले तथा पर-स्पर सख्यभावरखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और उपास्यपरमात्मा) एकही शरीररूपी वृक्षका आश्रय लेकर रहतेहैं, उन दोनोंमें एक उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वादलेकर उपभोगकरताहै और दूसरा न खाता हुआ केवल देखताहै। इस मंत्रकेद्वारा यह सन्देह होताहैकि यदि शरीर भेदसे जीवभेदके समान, उपास्यईश्वरभी प्रत्येक शरीरमें निवसकरता-

है तवतो जितने शरीररूपी वृक्षहैं उतनेही जीवरूपी पक्षीतो हैं ही किंतु उपास्य ईश्वरभी अनेकोंही मानने पड़ेंगे। परन्तु ऐसा माननेकेलिए कोई तैयार नहींहै। संशयका दूसरा कारण–"तत्त्वमसि" यह वाक्यहै। यह वाक्य, छान्दोग्य उपनिषद्के छठे अध्यायमें नौवार आचुकाहै। इस में तत् त्वं असि ये तीन पदहैं, इनमेंसे, वेदांतकी प्रायः सभी प्रक्रिया–ओंके अनुसार, तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वरहै और तत्पदका लक्ष्यार्थ ब्रह्म मानागयाहै। परन्तु तत्पदके वाच्यार्थ ईश्वरका व्यापकरूप समझमें नहीं आरहाहै। अन्यान्य कई संन्यासियोंनेभी मेरेसे कहाहैकि तत्पदका लक्ष्यार्थ ब्रह्म तो हमारे अनुभवमें आरहाहै, परन्तु तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वर हमारी समझमें नहीं आरहाहै। इसके उत्तरमें मैं उन्हें इतनाही कहसका जितनाकि वे पहलेसेही वाच्यार्थको जानरहेथे, उससे अधिक नहीं कहसका। क्योंकि इस विषयमें मैं स्वयंही संशय ग्रस्त था। परन्तु दीर्घकालिकी विचारके अनन्तर मैंने अब इस प्रकारकी अन्य शंकाओं-काभी समाधान करलियाहै।

औरोंके अद्वैतवादमें और मेरे अद्वैतवादमें विलक्षणताहै— और लोग, १-"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम" इस छांदोग्य० उप० के छठे अ० खण्ड २ की श्रुतिका ऐसा अर्थ करतेहैं। महाप्रलय में का सत्=सच्चिदानन्द, स्वगत सजातीय और विजातीय इन तीन भेदोंसे रहितहै। ऐसा अर्थ करतेहुए भी सिद्धांतमें ऐसा मानतेहैं कि वह मायाविशिष्ट है, सगुणहै। परन्तु मैं मानताहूं–जबकि वह सत्, विजातीय भेदसे रहितहै तब वह मायाविशिष्ट नहींहै, निर्विशेषहै, निर्गुणहै, शुद्धहै। २-और लोग मानतेहैं कि जैसे रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्पका अत्यन्ताभाव होजाताहै उसीप्रकार आत्माका यथार्थ बोध होनेपर मायाका अत्यन्ताभाव होताहै। परन्तु मैं मानताहूं–जिस जिस अवस्थामें मायाशक्ति, ब्रह्माश्रयाहै उस उस अवस्थामें सत्=सच्चिदानन्दब्रह्म, निर्गुणहै और शुद्धहै। और जिस जिस अवस्थामें मायाशक्ति, ब्रह्म-विषया होतीहै–उस उस अवस्थामें सदात्माब्रह्म, सगुणहै तथा विकारी-साहै।

उपनिषदोंमें और ब्रह्मसूत्रमें मुझे रज्जु सर्प और शुक्ति रजतका दृष्टांत नहीं मिलाहै। मृत्तिका सोना लोहा और अग्नि, इनके ही दृष्टांत

मिलेहैं। अतः मैंने अपनी इस पुस्तकमें इन्हींको उदाहरणकेलिए रखाहै। परन्तु वे लोग, मेरे ऐसे मन्तव्यका खण्डन नहीं करसकते। क्योंकि मैंने शांकरभाष्यका अनुवाद, शां० भा० के विपरीत नहीं कियाहै।

जिससे कि वेद शास्त्रोंके विपरीत अपना एक नयाही मत चलाना-वह कलहका कारण होजाताहै, परन्तु वेद शास्त्रोंके अविरुद्ध अपने विचारोंको प्रकट करना किसी अनर्थका कारण नहींहै। ऐसेतो ऐसे विषयोंपर शंका समाधानके रूपमें पहलेसे अन्यभी वहुधा ग्रन्थ वनेहुएहैं, तोभी इन विषयोंका संग्रहरूप कोई ग्रन्थ मेरी दृष्टिगोचर नहीं हुआहै। अतः मैं इन विषयोंको लेखद्वारा "वैदिक ब्रह्म विचार" नामक पुस्तकमें प्रकट कररहाहूं। जिससे कि मंत्रात्मक वेद तथा मंत्र ब्राह्मणात्मक ईशावास्य आदि वृहदारण्यक पर्यन्त ये दश उपनिषदही सांप्रदायिक न होनेकेकारण, सवकेलिये ही संमान्यहैं, अतः इनके आधारपरही ब्रह्मका विचार कियाजाएगा। और इस पुस्तकमें आएहुए विषयोंके समर्थक अन्यान्य उपनिषदों तथा मनुस्मृति आदि अन्य ग्रन्थोंके भी कुछ प्रमाणों-को ग्रहण कियाजावेगा। इसमें, यथा संभव हिंदीभाषामें संस्कृतभाषाके सुखवोधार्थ विभक्त्यन्तपद और क्रियाका पूर्णरूप लिखा जावेगा। विभक्तिअंतपदकारूप, सूर्याय=सूर्यकेलिये, प्राप्यः=प्राप्तकरनेकेयोग्यहै, ऐसा होगा। क्रियाका रूप-स्मरामि=स्मरणकरताहूं, गच्छति=जाताहै, पठति(पढ़ताहै) भवति (होताहै या होजाताहै) उच्यते (कहाजाताहै) क्रियते (कियाजाताहै) ऐसा होगा। इस पुस्तकमें १–ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप, २–सगुण ब्रह्म, ३–उपास्य ब्रह्म, ४–प्राप्य ब्रह्म, ५–प्राज्ञात्मा ईश्वर=अन्तर्यामी, ६–आदित्यात्मा ब्रह्म ईश्वर (अन्तर्यामी) ७–अंशांशी ब्रह्म, ८–ज्ञेय ब्रह्म, इसमें, तत्त्वमसि आदि वाक्योंका अर्थ विस्तार-पूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें दर्शायागयाहै। इसप्रकार ये आठ प्रकरण होवेंगे। जिन्होंके अध्ययनसे उपासक या भक्तजन, उपास्य ब्रह्मकी उपासनाद्वारा धर्म अर्थ काम, और निष्काम भक्तिसे अंतःकरणकी शुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त कर-सकेंगे, और जिज्ञासुलोग, ज्ञेयब्रह्मके ज्ञानद्वारा मोक्ष लाभकरेंगे।

भवदीय—दण्डी संन्यासी रामतीर्थ

सर्दी में:— मन्दिर सोनियां (लुधियाना)

गर्मी में:— रामभवन, भूपतपाला हरिद्वार।

प्रकरणसूची—

॥ ॐ ॥

वैदिक ब्रह्म विचार

श्री गुरुभ्यो नमः

हिरण्यगर्भमुपास्महे

नमोऽस्तु ब्रह्मणे तस्मै सर्ववेव स्वयंभुवे ।
मूलभूताय जगतस्तथा वेद-द्रुमस्य च ॥

वैदिक ब्रह्म विचार की निर्विघ्न परिसमाप्तिकेलिए मैं हिरण्यगर्भ भगवान्‌को नमस्कारकरताहूं, जो सदा ही अपने आपसे प्रकट होतेहैं और जो जगत् तथा वेदरूपी वृक्षके कारणहैं ।

"हिरण्यगर्भः समवर्त ताग्रे" ऋग्वेद तथा यजुर्वेदके इत्यादि प्रसिद्ध मंत्रोंसे आपका हिरण्यगर्भ नामहै, आप सबसे पहले प्रकटहुए तथा आप समस्तप्राणियोंके एक ही स्वामीहैं । (मुंडक उप० खंड १) "ओं ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता"—ब्रह्मा देवताओं से पहले प्रकट हुए जोकि संसारके कर्ता तथा उसके रक्षकहैं । अर्थात् आपका ब्रह्मा नामहै । आप ब्रह्मविद्याकी वंश-परंपराके भी प्रवर्तकहैं (बृ० उप० अ० २ ब्राह्मण ६ तथा अ० ४ ब्राह्मण ६ तथा अ० ६ ब्राह्मण ५) स्वयंभुब्रह्मणे नमः" इस अन्तिमपाठसे ब्रह्मा स्वयंभूहैं. ब्रह्माको नमस्कारहै । अर्थात् आप अपने आपसेप्रकट होतेहैं, इसीसे आपका नाम स्वयंभूहै । (कठ उप० अ० १ वल्ली २ मंत्र १६—१७) "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म" इत्यादि दो मंत्रोंके अनुसार, आपका नाम अपरब्रह्महै । आपकी ओंकारकेद्वारा उपासना करके मनुष्य ब्रह्मलोकमें प्रवेश करताहै । (प्रश्न उप० प्रश्न ५) "एतद्वै सत्यकाम" इत्यादि मंत्रसे अपरब्रह्म आपका नामहै और आपकी ओंकारकेद्वारा उपासना करनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होतीहै । इसीप्रकार आपके अधिदैव आदि और भी अनेकों नामहैं । (छांदोग्य उप० अ० १ खंड ६ में श्रुति) "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्व एव सुवर्णः" । "तस्य यथा

कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी" जो यह सूर्यके अन्दरमें सुवर्णमय पुरु दिखाईदेताहै, सुवर्ण जैसी दाढ़ी-मूंछवाला, सुवर्ण जैसे केशोंवालाहै त यह नखसे लेकर सब सोने जैसाहै। उसके नेत्र लाल तथा कमल जैसेहैं अर्थात् आपका सारा शरीर स्वर्णके समानहै; किन्तु नेत्र स्वर्ण जै नहीं। इसप्रकार आपका स्वर्ण जैसा सुन्दर रूपहै। उक्त श्रुति अनुसार आप सूर्यनिवासीहै। (बृ० अ० २ ब्राह्मण ३) "द्वे वाव ब्रह्म रूपे" इत्यादि श्रुतिके प्रमाणसे आप सूर्यनिवासी तथा अधिदैव संज्ञ वालेहैं। (ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ सूत्र १७) "जगद्व्यापारवर्जं" त (सूत्र १८) "प्रत्यक्षोपदेशात्" इत्यादि दो सूत्रोंके अनुसार, आप सूर्यस्था तथा जगत्की उत्पत्ति पालन और संहार करनेवाले परयात्माहैं पूर्वोक्त श्रुति तथा सूत्रोंके प्रमाणोंसे आपका आदित्य (सूर्य) में निवासहै (बृहदा० उप० अ १ ब्राह्मण ४ श्रुति ६) "अथेत्यभ्यमन्थत्" इस पर शांकरभाष्यका अनुवाद-अत्र विप्रतिपद्यन्ते पर एव हिरण्यगर्भ इत्ये संसारीत्यपरे।" इस विषयमें विद्वानोंका मतभेदहै-कितनोंका कथन कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भहै और कुछ लोग कहतेहैं कि वह संसारी

प्रथम पक्ष—मंत्राक्षरोंसे सिद्ध होनेकेकारण परमात्मा ही हिरण्य गर्भहै। "उसे इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहतेहैं" इस श्रुतिसे त यह "ब्रह्माहै, यह इन्द्रहै यह प्रजापति (विराट्) है और यह सम्पू देवगणहै" इस श्रुतिसे एवं "इस परमात्माको कोई अग्नि, कोई और कोई प्रजापति कहताहै" "यह जो अतीन्द्रिय, अग्राह्य, सूक्ष्म अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय और अचिन्त्य परमात्माहैं वही स्व प्रकट हुआहै" इन स्मृतियोंसे यही सिद्ध होताहै।

द्वितीय पक्ष—अथवा संसारी ही हिरण्यगर्भ होनाचाहिए; उसने समस्तपापोंको दग्ध करदिया" इस श्रुतिसे सिद्ध होताहै। क्यों असंसारी परमात्माकेलिए तो पाप-दाहका प्रसंग ही नहीं उपस्थि होता। इसके अतिरिक्त उसका भय और अरतिके साथ संयोग भ सुनागयाहै। वहां यह भी कहागयाहै कि "उसने स्वयं मर्त्य होकर भ अमृतों (देवताओं) की रचना की तथा उसने उत्पन्न होनेवाले हिरण्य गर्भको देखा" इस मंत्रवर्णमें भी संसारी ही सिद्ध होताहै। कर्म-विपा

प्रक्रियामें "ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) प्रजापतिगण, धर्म, महत्तत्त्व और अव्यक्त–इन्हें ही मनीपीलोग उत्तमसात्त्विकी गति बतलातेहैं" इत्यादि स्मृति भी है।

शंका–किन्तु इसप्रकारका विरुद्ध अर्थ तो संगत नहीं होसकता इससे श्रुतिके प्रामाण्यका विघात होताहै।

समाधान–ऐसा मत कहो, क्योंकि एक अन्य कल्पना संभव होनेकेकारण इनमें अविरोध होसकताहै। उपाधि-विशेषके सम्बन्धसे एक प्रकारकी कल्पना होनी सम्भवहै। "वह स्थिर होनेपर भी दूर चला जाताहै, सोया हुआ होनेपर भी सब ओर जाताहै, हर्ष और विषादसे युक्त उस देवको मेरे विना और कौन जानसकताहै ?।" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उसका उपाधिके ही कारण संसारित्वहै, परमार्थत: नहीं। स्वत: तो वह असंसारी ही है। इसप्रकार हिरण्यगर्भका एकत्व भी है और नानात्व भी है। इसीतरह सबजीवोंका भी एकत्व और नानात्व है। जैसाकि "तू वह है" इस श्रुतिसे सिद्ध होताहै। हिरण्यगर्भ तो उपाधि–शुद्धिकी अतिशयताकी अपेक्षासे प्राय: परमात्मा ही है—ऐसी श्रुति–स्मृतिवादोंकी प्रवृत्तिहै। वे उसका संसारित्व तो कहीं कहीं हीं दिखातेहैं। किन्तु जीवोंका तो उपाधिगत अशुद्धिकी अधिकताके कारण प्राय: संसारित्व ही बतलाया गयाहै। सम्पूर्ण उपाधिभेदके बाधकी अपेक्षासे श्रुति और स्मृतिके वादोंद्वारा सबका परमात्मभावसे निरूपण कियाजाता है। अस्तु—

श्री शंकर आचार्यने उक्त भाष्यद्वारा हिरण्यगर्भको ईश्वर ही सिद्ध कियाहै। (श्वेताश्वतर उप० अ० ६ मंत्र १८)

"ओं यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।"

जो ईश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करताहै और जो निश्चय ही उसे वेदोंका प्रदान करताहै, उस परमात्मज्ञान-विषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले देव ईश्वरको मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरणरूपमें ग्रहणकरताहूं।

भावार्थ यह है कि सृष्टिकी आदिमें सत्=सच्चिदानन्दब्रह्ममें

जो अहंवृत्ति उत्पन्न हुई उसका नाम "अव्यक्त". अक्षर, प्रकृति, कारण-शरीर या आनन्दमयकोश पड़ा। महाप्रलय में वह वृत्ति स्वाश्रया थी। अर्थात् उस समय वह वृत्ति सच्चिदानन्दमें इतनी विलीन थी कि उसकी उससे पृथक् गणना ही नहीं की जासकती। अतः वह सत्, अखण्ड अद्वैत ब्रह्म था। उसमें जब वह वृत्ति या स्फुरणशक्ति प्रकट होगई तब वह स्वविषया अर्थात् उसकी आच्छादक होगई। परन्तु सत्में जो वृत्ति, रजोगुण और तमोगुणको अभिभूत करनेवाली प्रकट हुई, वह शुद्धसत्त्व-गुण-प्रधानमाया कहलाई। उसी मायावृत्तिके सहित सत्का नाम ईश्वर=अन्तर्यामी होगया। सत्में जो वृत्ति रजोगुण और तमोगुणसे दब जानेवाली प्रकट हुई वह मलिन-सत्त्वगुण-प्रधान अविद्या कहलाई। उसी वृत्तिकेद्वारा सच्चित् आत्माका नाम 'प्राज्ञ' पड़गया। वे वृत्तियां गुणोंके तारतम्यसे अनन्तहैं. इसीसे प्राज्ञ भी अनन्त होगये। जब फिर वह अव्यक्तरूपा या मायारूपा अहंवृत्ति बहिर्मुख होकर कुछ स्थूल होगई तब उसका नाम महत्तत्त्व पड़गया। उसका नाम 'महत्' इस लिए पड़ाहै कि उसमें ईश्वरके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म चमक उठेहैं। जो मलिन-सत्त्वगुण-प्रधान अव्यक्तरूपा या अविद्यारूपा अहं वृत्ति थी, वह कुछ स्थूल होकर बुद्धि कहलाई। ये बुद्धियां प्राणिभेद अनन्त होगई। महत्तत्त्वका ही स्थूलरूप अहंकारहै और बुद्धिका स्थूल रूप मनहै। तब फिर महत्तत्त्वरूप अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, र और गंध नामकी पांच तन्मात्राएँ पैदा होगई। अर्थात् महत्तत्त्वरू अहंकार ही पांच विषयरूपसे परिणत होगया। उसके अनन्तर शब्द आदि पांच सूक्ष्मभूतोंके सत्त्वगुण अंशसे क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण नामक पांच ज्ञान-इन्द्रियां उत्पन्न होगई। इन्हीं भूतोंके रजोगुण अंशसे क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु नामकी पांच कर्म-इन्द्रियां प्रकट होगई। इन्हीं भूतोंके सम्मिलित रजोगुण अंशसे प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नामक पांच प्राण पैदा होगये। पांच ज्ञान-इन्द्रियां, पांच कर्म-इन्द्रियां, पांच प्राण, मन, और बुद्धि इन सबको मिलाकर १७ तत्त्वोंका लिंगशरीर या सूक्ष्म-शरीर बनगया। इसीलिए महत्तत्त्वप्रधान सूक्ष्मशरीरद्वारा

ईश्वरका नाम हिरण्यगर्भ पड़गया। और बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीरद्वारा प्राज्ञकी तैजस संज्ञा पड़गई। बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीर असंख्य हैं, अतः तैजस जीव भी असंख्य ही हैं। उसके पश्चात् हिरण्यगर्भ भगवान्ने जीवोंके पुर्व किये हुए पुण्यपापरूपी कर्मोंके फलके उपभोगार्थ शब्द आदि पांच सूक्ष्मभूतोंके तमोगुण अंशसे, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी नामक पांच स्थूलभूतों की रचना की। उनका पंचीकरण करके सब प्रकारकी स्थूलसृष्टि बनादी। अपने स्थूलशरीरकी उपाधिसे हिरण्यगर्भका नाम वैश्वानर या प्रजापति पड़गया। एवं अपने स्थूल-शरीरकी उपाधिसे तैजसका नाम विश्व पड़ा। देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी आदिके भेदसे स्थूलशरीर असंख्य बनगये। अतः स्थूल उपाधिवाले विश्व नामक जीव भी असंख्य ही हैं। (कठ उप० अ० १ वल्ली ३ मंत्र १०–११) "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" तथा "महतः परमव्य-क्तम्" इनके अनुसार, इन्द्रियोंसे परे अर्थ=शब्द आदि विषय हैं, अर्थोंसे परे मनहै, मनसें परे बुद्धिहै, बुद्धिसे परे महान्=महत्तत्त्वहै, महत् से परे अव्यक्तहै और अव्यक्तसे परे पुरुषहै, पुरुषसे परे कुछ नहीं, वही परत्वकी परम सीमाहै। मंत्रोंमेंके परे शब्दका अर्थ भिन्न और सूक्ष्म लेना चाहिए। इन मंत्रोंके अनुसार शब्द आदि तन्मात्राओंसे मन तथा बुद्धि भिन्न हैं एवं सूक्ष्महैं। इसीकारणसे हमने शब्द आदि पांच सूक्ष्म-भूतोंसे मन बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं दिखाई। दूसरे, आत्मामें कर्तापनकी उपाधि मन या बुद्धि ही मानीगई है, अतः मन या बुद्धि सब सृष्टिके जनकहैं। इसलिए भी भूतोंसे मन तथा बुद्धिकी उत्पत्ति माननी युक्ति-विरुद्धहै। अस्तु,

जिसप्रकार अपने ही मलिनसात्त्विकी अहंवृत्तिरूप अव्यक्त या कारणशरीरद्वारा सच्चिदानन्द आत्माका नाम प्राज्ञहै, बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीरकेद्वारा प्राज्ञका ही नाम तैजसहै, और मनःप्रधान स्थूल-शरीरकी उपाधिद्वारा तैजसका ही नाम विश्वहै। ये तीनों नाम एक ही आत्माकेहैं। उसीप्रकार अपनी ही शुद्धसत्त्विकी अहंरूप मायावृत्तिद्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मका नाम ईश्वर=अन्तर्यामीहै, तथा महत्तत्त्व या बुद्धिप्रधान सूक्ष्मशरीरद्वारा ईश्वरका ही नाम हिरण्यगर्भहै, एवं अहंकार

प्रधान स्थूलशरीरद्वारा हिरण्यगर्भका ही नाम प्रजापति या वैश्वानर-है। अतः ईश्वर, हिरण्यगर्भ और वैश्वानर ये तीनों नाम एक ही परमात्माके हैं। अतः आप ही ईश्वररूपसे वेदोंका प्रदान करने वालेहैं और आप ही हिरण्यगर्भरूपसे वेदोंको ग्रहणकरते हैं, किन्तु आप स्वामी-सेवक-भावसे वेदोंके दाता और ग्रहीता नहीं, यह मंत्रका भावार्थ है।

पंचदशी प्रकरण १ श्लोक १५—

चिदानन्दमय—ब्रह्म—प्रतिबिम्ब—समन्विता ।
तमो-रजः-सत्त्वगुणा प्रकृति र्द्विविधा च सा ॥

(महाप्रलयकी मध्य-अवस्थामें सद्ब्रह्मकी शक्तिकी उससे पृथक् गणना नहीं, अतः वह सत्, अखंड अद्वैत ब्रह्म था। महाप्रलयके अन्तमें, अर्थात् सृष्टिके आदिमें वह शक्ति) सत्त्व-रज-तमोगुणरूपसे विषमताको प्राप्त होकर प्रकृति कहलाई और वह सच्चिदानन्द ब्रह्मके प्रतिबिंब-सहित दो प्रकारकी होगई ॥१५॥

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
माया-बिंबो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

सत्त्वगुणकी शुद्धि और अशुद्धिकेकारण (प्रकृतिके) माया और अविद्या नामक दो रूप होगये, अर्थात् शुद्धसत्त्व-गुण-प्रधान माया और मलिन—सत्त्वगुण—प्रधान अविद्या कहलाई। मायामें जो चैतन्यका प्रतिबिंब पड़ा वह मायाको अपने वशीभूत करनेकेकारण सर्वज्ञ ईश्वर होगया ॥१६॥

अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥१७॥

अविद्यामें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ा वह अविद्याके वशवर्ती होकर उसकी विचित्रतासे अनेकप्रकारका होगया, वह अविद्या कारण-शरीरहै, उसमें अभिमान करनेसे उसका नाम प्राज्ञ पड़गया ॥१७॥

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यगर्भतामीशः तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

(सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्ति होजाने पर) प्राज्ञ, सूक्ष्मशरीरमें अभि-मान करके तैजस नामवाला होगया और ईश्वर सूक्ष्मशरीरमें अभिमान

करनेसे हिरण्यगर्भ नामक होगया अर्थात् प्राज्ञका अपने सूक्ष्मशरीरकी उपाधिसे तैजस नाम पड़ा और ईश्वरका अपने सूक्ष्मशरीरकी उपाधिसे हिरण्यगर्भ. उनमें व्यष्टि और समष्टिताहै अर्थात् प्राज्ञ परिछिन्नहै और हिरण्यगर्भ सर्वरूपहै ॥२४॥

अब यहां शंका होतीहै कि जब ईश्वरकी माया—उपाधि जीवोंकी अविद्या-उपाधियोंसे भिन्नहै तब ईश्वर समष्टि (सर्वरूप) कैसे होगया? इसका समाधान आगेके श्लोकमें करतेहैं।

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्तदन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

ईश्वर=हिरण्यगर्भ, सभी तैजस जीवोंको अपनेसे अभिन्न मानताहै, अतः वह समष्टि कहलाताहै, ईश्वरसे भिन्न तैजस जीव सबसे अपनी एकताका ज्ञान न रखनेकेकारण व्यष्टि संज्ञावाले कहलातेहैं, अर्थात् ईश्वर वृत्तिज्ञान-द्वारा समष्टि (सर्वरूप) है, किन्तु वह शरीरसे समष्टि नहीं, क्योंकि ईश्वरका अपना शरीर सब जीवोंसे अलगहै ॥२५॥

(श्लोक २८) "तैरण्डः" तथा (श्लोक २९) "तैजसा०" के अनुसार अपने स्थूलशरीरकी उपाधिसे हिरण्यगर्भका नाम वैश्वानर होगया और अपने २ स्थूलशरीरकी उपाधियोंसे तैजस जीवोंके देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी आदि अनेकों विश्वनाम होगये ॥२८॥ ॥२९॥

अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् उपास्य ईश्वर अपनी मायावृत्तिद्वारा सभी जीवोंसे भिन्न ही हैं। इसीकारण आप वृत्तिज्ञानकेद्वारा समष्टिहैं; किन्तु शरीरसे समष्टि नहीं। क्योंकि आपका नाम, शरीर, स्थान, धर्म, और कर्म जीवोंसे भिन्नहै, इसीलिए जीवोंके किये हुए शुभ-अशुभ कर्म तथा उनके सुख-दुःखरूपी फल आपको स्पर्श नहीं करते। अर्थात् आप सर्वज्ञहैं, सर्वव्यापक नहीं। आपही प्राणियोंके किये हुए पुण्य-पापरूपी कर्मोंके फल-प्रदाता हैं तथा प्रार्थना करनेपर बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रवृत्त करनेवालेहैं।

संध्या के अंतिम मन्त्र "ओं तेजोसि" का अन्तिम पाठ—'नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे०' तुरीयदर्शतपद परोरजाको नमस्कारहै। अर्थात् सूर्यमण्डल मध्यवर्ती परमात्मा इन्द्रिय-अगोचर

होनेकेकारण प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आता, इसीलिए वह 'दर्शतपद' क
जाताहै। रजसे परे अर्थात् वह सब लोकोंके ऊपर विराजमानहै,
वह 'परोरजा' है उसे नमस्कारहै। इसप्रकार वेदोक्त नित्यकर्म सं
गायत्री आदिकेद्वारा उपास्य ब्रह्म=ईश्वर आप ही हैं। भगवान्
तथा भगवान् कृष्ण प्रातःसायं संध्या-गायत्री-द्वारा आपकी उपा
किया करतेथे। ऐसा योगवाशिष्ठ आदि इतिहास तथा पुराणोंमें
ही वर्णन आताहै। वेदोंमें आपके समान शुद्धसात्त्विकी मायावृत्ति-मं
सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्मोंवाला अन्य कोई ईश्वर या ब्रह्म नह
जो भी मनुष्य किसी कामनाको मनमें रखकर भेद या अभेद बु
आपकी उपासना करताहै, उसे मनवांछित फल आपसे मिल जाता
जो कोई मनुष्य निष्कामभावसे आपकी भक्ति करताहै उसके अ
करणके विक्षेपनामक दोषकी निवृत्ति होजानेसे वह ज्ञानका अधिक
यनजाताहै।

इसप्रकार मैं १–स्वयंभू हिरण्यगर्भ आदि नामवाले २–स्व
समान शरीर अर्थात् रूपवाले तथा ३–आदित्य=सूर्यनिवासी, ४-स
आदि धर्मोंवाले, ५–जगत्की उत्पत्ति आदि कर्म करनेवाले भगवा
नमस्कार करके पुस्तक लिखना आरम्भ करताहुं ॥ इति मंगलाचरण

१–ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप

ब्रह्मकास्वरूप सत्यज्ञानानन्दहै, और वह महाप्रलयकी मध्य अवस
अनन्तहोनेसे चतुष्पाद विशुद्ध निरपेक्षनिर्गुणब्रह्महै—

तैतरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्लीके प्रथम अनुवाकमें श्रुति
"ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्"। व्याकरणकेद्वारा ब्रह्म नाम व्यापक या ब
काहै। ब्रह्मको जाननेवाला परको प्राप्तहोजाताहै, अर्थात् व्याप
जाननेवाला व्यापक या बड़ा होजाताहै। यह श्रुतिका अर्थहै। अब
जिज्ञासा या जाननेकी इच्छा हुई कि ब्रह्म तो किसी वस्तुका नाम
जिस वस्तुका ब्रह्म यह नामहै उसका स्वरूप क्याहै। क्योंकि व्यवह
नाम और नामीका भेद देखनेमें आरहाहै। प्रत्येक वस्तुका नाम भि
और नामी या रूप अलगहै। उदाहरणकेलिये जलको ही लेलीजि
जल यह नाम वाणीमेंहै और इसका नामी रूप आकार या अर्थ बाह

जोकि पान कियाजाताहै। इसीप्रकार ब्रह्म इस नामका भी नामी या रूप होनाचाहिए। इसप्रश्नका उत्तर अगले मन्त्रसे दियागयाहै। मंत्रहै—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" सत्य नाम उस वस्तुकाहै जो वस्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान, इन तीनोंही कालोंमें बनीरहे, वास्तवमें वही सत्यहै। ज्ञान नाम चित् या प्रकाश काहै, अनन्त नाम अन्तसेरहितकाहै, और ब्रह्म नाम व्यापककाहै। मंत्रमें सत्य और ज्ञान पदसे ब्रह्मका स्वरूप कहागयाहै, अनन्त पद हेतु वाचक नामहै या विशेषणहै। इस समस्त वाक्यका यह अर्थहुआ कि सत्य ज्ञानरूपी जो वस्तुहै वह अनन्त-होनेसे ब्रह्म नाम व्यापकहै। प्रश्न—अन्त किसे कहतेहैं। उत्तर—अन्त नाम, भेद परिच्छेद खण्ड नाश अल्प सीमा या छोटेकाहै। किसी वस्तु-के अल्पहोनेमें, स्वगतभेद सजातीयभेद और विजातीयभेद ये तीन प्रकारके भेद ही कारण होतेहैं।

१—स्वगतभेद—अपने अवयवों या अंगोंद्वारा जो अपनेमें भेदहै वह स्वगतभेद कहलाताहै। जैसाकि मनुष्यका अपने कर चरण या हाथ पैर आदि अंगोंद्वारा अपनेमें जो भेदहै, वह स्वगतभेदहै। जब हम कहेंगे कि यह हाथहै यह पैरहै इसप्रकार प्रत्येक या हरएक अङ्गका अलग २ नाम लेंगे तब उसका मनुष्य नाम न रहा वह अपने अंगोंमें बटजानेसे अन्तवाला या अल्प होगया, क्योंकि मनुष्य नाम तो अंगोंके समूहका है किन्तु हाथ पैर आदि एक एक अंगका नामहै। यह स्वगत भेद अवयव यां हिस्सेवाली वृक्ष आदि सभी वस्तुओंमें रहताहै।

२—सजातीयभेद—समान जातिवालेसे जो भेदहै वह सजातीय-भेदहै। जैसाकि मनुष्यका मनुष्यसे भेदहै। क्योंकि प्रत्येक मनुष्यका रूप भिन्न २ है, इसी रूप भेदकेकारण मनुष्य प्रत्येक मनुष्यमें व्यापक न रहनेसे अन्तवाला या छोटा होगया। यह सजातीयभेदहै। यह सजातीयभेद, समानजातिवाले वृक्ष आदि प्रत्येक व्यक्तिमें व्यापक है और होगा।

३—विजातीयभेद—भिन्न जातिसे जो भेदहै, वह विजातीय-भेदहै। जैसाकि मनुष्यका अपनेसे भिन्नजातिवाले पशु आदि सभी जातियोंसे भेदहै। क्योंकि मनुष्यभी जातिभेदके कारण, सभी जातियों-

में व्यापक न होनेसे अन्तवाला या सीमित होगया। यह विजातीयभेद है। यह भेदभी भिन्न जातिवाले मनुष्य आदि सभी जातियोंमें रहताहै। परन्तु सत्य ज्ञान या सत् चित् वस्तु "एषो ऽकलो ऽमृतो भवति" यह अवयव रहितहै और अविनाशीहै—इस प्रश्नउप० की छठे प्रश्नकी श्रुतिसे निरवयवहै। अतः वह अवयव या अङ्गों वाला न होनेसे उसमें स्वगतभेद न होनेसे इसकेद्वारा अन्तवाला नहींहै। उसकी समानतामें दूसरा सत्य ज्ञान न होनेपर उसमें सजातीयभेद न होनेसे वह सजातीयभेदकेकारण अन्तवाला या खण्डित नहींहै। सत्य ज्ञानसे भिन्न, माया या इच्छाशक्ति नहींहै, अतः वह विजातीयभेदकेकारण अन्तवाला नहींहै। इसप्रकार सत्य ज्ञानरूपी वस्तु, स्वगत सजातीय और विजातीयभेद—रहितहोनेसे अनन्तहै इसीसे वह ब्रह्म या व्यापकहै। जिससेकि वेदोंका अभिप्राय अतिगंभीर और दुर—वगाह्यहै कि अधिकारीही ब्रह्मविद्याको प्राप्तकरे। इसीलिए श्रुतियोंमें ब्रह्मका कहींपर सत् रूप और कहींपर सत्य ज्ञानरूप तथा कहींपर केवल आनन्दरूप तो दियागयाहै, परन्तु श्रुतियोंमें ब्रह्मका, सत्य ज्ञान आनन्दरूप या सच्चिदानन्दरूप, ऐसा सामूहिकरूप कहींपर भी नहीं दिखायागयाहै। (ऐसेही नानाप्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्तिके कथनको भी समझलेनाचाहिये) जिससे कि ब्रह्मका, केवल सत्य और ज्ञानरूपही स्वरूप नहींहै, किन्तु उसका आनन्द रूप भीहै, इसलिए इनके साथ आनन्दरूपको लगादेनाही उचितहै।

छान्दोग्य उप० अ० ७ खंड १३ श्रुति—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्"—भूमा नाम ब्रह्मका है वही सुख स्वरूपहै, अल्प नाम भेदका है इसमें सुख नहींहै। यह श्रुतिका अर्थहै। उक्त श्रुतिमें, व्यापककोही सुख या आनन्दरूप मानागयाहै। तब फिर सत्य ज्ञानके साथ आनन्दको लगादेनेसे अब यह सिद्ध हुआ कि सत्यं ज्ञानम् आनन्दं या सत् चित् आनन्द या अस्ति भाति प्रियरूप ही स्वगत आदि तीनों भेदोंकी सीमासे रहितहोनेसे ब्रह्महै या व्यापकहै।

पञ्चदशीके पंचकोश विवेक प्रकरणमें श्लोक ३५—

न व्यापित्वाद्देशतो ऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा॥

इस श्लोकके अनुसार, या यूं कहो कि सच्चिदानन्दही व्यापक-होनेसे देशकृत भेद या परिच्छेदसे रहितहै, नित्यहोनेसे कालकी सीमासे रहितहै, और सर्वात्मा या एकहोनेसे अन्य वस्तुद्वारा होनेवाले अन्त या भेदसे रहितहै, ऐसी अनन्तता ब्रह्ममें तीनप्रकारकी है। अब यह जिज्ञासा हुई कि सत्यज्ञानानन्दका ऐसा अनन्त ब्रह्मरूप किस समयमेंहै। इस प्रश्नका उत्तर आगेकी श्रुति देरहीहै—

छांदोग्य० अ० ६ खंड २ में श्रुति—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—हे प्रिय, यह कारण कार्यात्मक संसार, अपनी उत्पत्तिसे पूर्व एकही अद्वितीय सत् था। इस श्रुतिमें सत् नाम सच्चिदानन्द-का ही है। क्योंकि पहलेकहीगई रीतिसे उसका पूर्णरूप, सत्यज्ञानानन्दही निश्चित हुआहै। "सदेव" इस श्रुतिमें, एक एव और अद्वितीय ये तीनोंही पद, स्वगत आदि तीनों भेदोंके निषेधार्थ या हटानेकेलिए दिएगएहैं। इससे सिद्ध हुआ कि यह जगत्, अपनी उत्पत्तिसे पहले स्वगत आदि तीनों भेदों या अन्तोंसे रहित जो सच्चिदानन्द, उससे पृथक् या भिन्न नहीं था, अतः वह सत्यज्ञानानन्द, अनन्त अखण्ड परब्रह्म या पूर्णब्रह्म था।

ऐतरेय उप० खंड १ में श्रुति—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्"—यह कारण कार्यात्मक प्रपंच, अपनी उत्पत्तिसे पहले एकही आत्मा या चैतन्य था, अन्य कुछभी न था। इस श्रुतिमेंभी आत्मा नाम सच्चिदानन्दकाहीहै। एक और एव पद, स्वगत आदि तीनों भेदोंकी व्यावृत्ति या दूरकरनेकेलियेहैं। तात्पर्य यह है कि यह जगत्, अपनी उत्पत्तिसे प्रथम, स्वगत आदि तीनसीमाओंसे रहित सच्चिदानन्दसे भिन्न नहीं था। इसप्रकार सत्यज्ञानानन्दही, सृष्टिसे पहले स्वगत आदि तीनों अन्तोंसे रहितहोनेसे परब्रह्म या पूर्णब्रह्म था। सच्चिदानन्दकी ऐसी अवस्थाकोही अतिशुद्ध मायातीत या मायारहित कहागयाहै। श्री शङ्कराचार्यजी, तथा उनके अनुगामी सभी विद्वानोंने उपरोक्त "सदेव"—इस श्रुतिका और "आत्मा वा"—इस श्रुतिका यही अर्थ कियाहै कि यह कारण कार्यात्मक जगत्, सृष्टिकालसे पहले सत् या आत्मरूप था, आत्मासे भिन्न न था। इसलिए आत्मा या सच्चिदानन्द-रूपही स्वगत आदि तीनों भेदोंसे रहितहोनेसे अनन्त या अखंडब्रह्म था।

श्रीविद्यारण्यजी कृत पंचदशीके पंचभूतविवेकप्रकरणमें "सदेव" —इस श्रुतिका श्लोक २१ "तथा सद्वस्तुनः"—इससे लेकर श्लोक २५ विजातीयं०यहां तक ऊपरमें कहागयाही अर्थ कियाहै। इनके आगेके श्लोकोंमेंभी इसी अर्थको बड़ी युक्ति पूर्वक सिद्ध कियाहै कि उस समय मायाशक्ति ब्रह्मसे पृथक् नहींहै, इसीसे वह स्वगत आदि द्वैतसे रहितहै। इसलिये अनन्त या अखण्ड सच्चिदानन्दरूपही, सत्त्व आदि तीनगुणोंसे रहित होनेसे निर्गुणब्रह्महै, आकाररहितहोनेसे निराकार, विकारहीनहै इससे निर्विकार, कल्पनाशून्यहोनेसे निर्विकल्प, माया आदि उपाधिसे रहितहोनेसे निरुपाधिकब्रह्म इत्यादि नाम वालाहै। इसप्रकार सत्य-ज्ञानानन्द या सच्चिदानन्दके अनन्त रूपकोही मंत्र और मंत्रब्राह्मणात्मक कठ और प्रश्न आदि उपनिषदोंमें परब्रह्म या निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म या पूर्णब्रह्म अर्थात् सबसे बड़ा निर्गुणरूप मानागयाहै।

निरपेक्षब्रह्म या बड़ी वस्तु वही होतीहै, जो सबसे बड़ीहै। सापेक्षब्रह्म या बड़ी वस्तु वही होतीहै, जो किसीकी अपेक्षा (बजाय) बड़ीहो और किसीकी अपेक्षा छोटीहै। जैसाकि पृथ्वी अपने घट पट आदि रूप कार्यकी अपेक्षा ब्रह्महै या बड़ीहै, और अपने कारणरूप जलकी अपेक्षासे अल्पहै। इसप्रकार पृथ्वी, जल तक अन्त या सीमा-वाली होगई। यह अब सापेक्षब्रह्म होगई। अनन्त या निरपेक्षब्रह्म या बड़ी नहीं रही। इसीप्रकार जलभी पृथ्वीसे तो ब्रह्महै, कार्यकी अपेक्षा कारण बड़ाहीहै, परन्तु तेजसे अन्तवालाहै या अल्पहै। इससे जलभी निरपेक्ष या अनन्तब्रह्म नहींहै। ऐसेही तेजभी जलसे तो ब्रह्महै, परन्तु वायुसे अन्तवालाहै, इसीसे वह निरपेक्षब्रह्म नहींहै। यूंही वायुभी तेजसे ब्रह्महै, परन्तु यहभी आकाशकी अपेक्षा अल्पहै, ऐसेही आकाशभी ज्ञानेन्द्रियोंकी अपेक्षा सापेक्षब्रह्महै। क्योंकि श्रोत्र आदि पांचों ज्ञानेन्द्रियां, आकाश आदि पांचभुतोंकी अपेक्षा सूक्ष्म और इनकी प्रकाशक या इनको जानतीहैं। ऐसेही ज्ञानेन्द्रियांभी सापेक्षब्रह्महैं। क्योंकि इनकी अपेक्षा सूक्ष्म मनहै और इनका प्रकाशकहोनेसे ब्रह्महै। आगे मनभी सापेक्षब्रह्महै। क्योंकि इसके गुण दोष या अच्छेपन और बुरेपनको जाननेवाली बुद्धि इससेभी ब्रह्महै। बुद्धिभी सापेक्षब्रह्महै। क्योंकि बुद्धि

परे महत्तत्व या हिरण्यगर्भरूपा, सर्वज्ञ आदि गुणोंवाली बुद्धि ब्रह्महै। बुद्धि और महत्तत्वसे शुद्धसत्वगुणप्रधानमाया और मलिनसत्वगुण-प्रधानअविद्या ब्रह्महै। यहां तक संपूर्ण इन्द्रियों एवं समग्र मनों तथा अखिल बुद्धियों, और समस्त कारणशरीरोंका ग्रहणकरनाचाहिए। क्योंकि ये इन्द्रियां आदि सभी वस्तुएं असंख्यहैं। कारणशरीरभी अपने संपूर्ण कार्यकी अपेक्षा तो कारणहोनेसे ब्रह्महै, परन्तु वह अनन्त सच्चिदानन्दरूपकी अपेक्षा स्वगत आदि भेदके हेतु अन्तवालाहोजानेसे आनन्दमयभी सापेक्ष ब्रह्महीहै। इसलिए सच्चिदानन्दका अनन्त रूपही, निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म या पूर्णब्रह्महै। यही बात गीता अध्याय ३ श्लोक ४२ में कहीगईहै।

इन्द्रियाणि पराण्याहु—रिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(आकाश आदि स्थूल भूतोंसे) परे इन्द्रियां कहीजातीहैं, इन्द्रियोंसे परे मन एवं मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे आत्माहै।
कठ उप० छठी वल्ली मंत्र ८—९।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम्।
सत्वादधि महानात्मा महतो ऽव्यक्तमुत्तमम्॥ ८॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको ऽलिंग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ९॥

आकाश आदि स्थूलभूतोंसे परे, इन्द्रियांहैं इन्द्रियोंसे परे मन, मनसे उत्तम बुद्धिहै तथा बुद्धिसे श्रेष्ठ महत्तत्वहै, महत्तत्वसे उत्तम अव्यक्तहै॥८॥ अव्यक्तसे परे पुरुषहै, वह व्यापकहै और चिन्हसेरहितहै जिसे जानकर जीव अमर होजाताहै॥९॥ इससे सत्यज्ञानानन्दका अनन्तरूप ही निरपेक्षनिर्गुणब्रह्महै।

परन्तु उक्त रीतिसे सच्चिदानन्दका ऐसा अनन्तरूप, महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें ही सिद्ध होताहै, उसकी आदि और अन्तिम अवस्थामें नहीं। क्योंकि महाप्रलयकी आदि अवस्थामें ब्रह्मकी कारणअवस्था समाप्त होरहीहै और उसकी अन्तिम अवस्थामें ब्रह्मकी कारण अवस्थाका आरम्भ होजाताहै। अतः उसकी मध्य अवस्थाही अतिशान्त

निर्विकल्प अवस्थाहै। उसीमें सच्चिदानन्दका अनन्तरूप सिद्ध होताहै अतः वह निरपेक्षनिर्गुणब्रह्महै।

ऐसेतो सृष्टिकालमें होनेवाली सुषुप्तिकी मध्य तुरीय अवस्था सच्चिदानन्दका इच्छासे रहितहोनेसे शुद्ध अकर्त्ता और अभोक्ता रूप तथा मांडूक्य उप० की "नान्तःप्रज्ञं"—इत्यादि श्रुतिसे इसका आत्म यह नामहै, एवं "अयमात्मा ब्रह्म"—इस श्रुतिसे यह ब्रह्महै।

जिससेकि सुषुप्तिकी आदि अवस्थामें आत्माकी कारण अवस्था समाप्त होरहीहै और इसकी अन्तिम अवस्थामें आत्माकी कारण अवस्थाका आरम्भ होजाताहै, अतः सुषुप्तिकी मध्य अवस्थाही आत्मा की शुद्ध अकर्ता अभोक्तारूप ब्रह्म अवस्थाहै। तोभी यह, समान जाति वाले आत्माओंसे सजातीय भेदवालाहै। स्वप्नों तथा जागृतोंमें स्थित आत्माओंसे विजातीय भेदवालाहै, अतः यह अनन्तब्रह्म नहींहै।

ऐसेतो सत्यज्ञानानन्दके चारपदोंमेंसे सृष्टिकालमें एकपाद सबसे बड़ा अंश सच्चिदानन्द, शुद्धसत्वगुणप्रधानमाया उपाधि इच्छावाला आदित्यस्थानीहोनेसे अन्तर्यामी कहाजाताहै और वह अपने सर्वज्ञ आदि गुणोंकेद्वारा अन्य सभी जीवोंकी अपेक्षा ब्रह्म या बड़ाहै तोभी वह अपने सूत्रात्मा और वैश्वानरकेद्वारा स्वगतभेदवालाहै तथा अन्य सभी जीवोंसे विजातीय भेदवालाहैं, अतः वह सत्यज्ञानानन्दका अनन्तरूप न होनेसे वह निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म नहींहै।

ऐंसेतो सच्चिदानन्दके चारपादोंमेंसे सृष्टिकालमें एकपाद सच्चिदानन्द, सत्त्व आदि तीनों गुणोंकी उपाधिवाला अर्थात् माया और अविद्या आदि सभी उपाधियोंमें व्यापकहोनेसे सगुणब्रह्म कहलाताहै और वह प्राज्ञ तथा अन्तर्यामीकी अपेक्षा ब्रह्महै। तोभी वह अपने प्राज्ञ आदि अध्यात्मपादोंद्वारा और अन्तर्यामी आदि अधिदैवपादोंद्वारा स्वगत भेदवालाहै तथा माया और अविद्याकेद्वारा विजातीय भेदहोजानेके कारण वह सत्यज्ञानानन्दका अनन्त रूप न होनेसे निरपेक्षनिर्गुणब्रह्म नहीहै।

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा ऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।
पादो ऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

यह मंत्र यजुर्वेदके और ऋग्वेदके पुरुषसूक्तकाहै। इसका यह अर्थहै कि वह ब्रह्मांडमें व्याप्तहोकरभी दश अंगुल ऊपर स्थितहै, इसका समस्तविश्व एकपादहै और इसका तीनपाद अविनाशीहै। ऐसेतो उक्त मंत्रके अनुसार सृष्टिकालमें होनेवाले सगुण सच्चिदानन्दसे, त्रिपाद विशुद्धसच्चिदानन्द, माया या इच्छारहितहोनेसे निर्गुण निराकार तथा ज्ञेय ब्रह्महै, तोभी वह सगुणसच्चिदानन्दकेद्वारा विजातीय भेदहोजानेसे वह सच्चिदानन्दका अनन्तरूप नहींहै, अतः वह निरपेक्षनिर्गुणब्रह्म नहींहै।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मंत्र या मंत्रब्राह्मणात्मक उपनिषदोंके अनुसार महाप्रलयकी मध्य अवस्थामेंही सत्यज्ञानानन्दका अनन्तरूपही चतुष्पादविशुद्ध निरपेक्ष निर्गुणब्रह्महै।

स्मरणरहेकि तुरीय आत्माका, सजातीय और विजातीय भेदवाला होना तथा त्रिपादज्ञेय ब्रह्मका विजातीयभेद युक्त होना स्वदृष्टिसे नहींहै और न ज्ञानवान् की दृष्टिसेहै। किन्तु जाग्रतकालीन जीवकी साधारण दृष्टिको लेकरहै। अस्तु ! उक्तरीतिसे सत्यज्ञानानन्दका रूप, पांच प्रकारसे ब्रह्महै। १—"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" ब्रह्मके दो रूपहैं। इन बृहदारण्य की श्रुतियोंसे, आदित्यस्थानी सच्चिदानन्द सापेक्षसगुण ब्रह्महैं। क्योंकि वह शुद्धसत्वगुणप्रधान मायारूपी इच्छाके सहितहोनेसे सगुणहैं और अन्यजीवोंकी अपेक्षा उपास्य तथा प्राप्यहोनेसे बड़ाहै। अतः वह सापेक्ष सगुणब्रह्महै।

२—"सहस्रशीर्षा पुरुषः" इस मंत्रसे असंख्य शिरों आदि अंगोंवाला "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" इसका समस्त विश्व एकपादहै, इस अर्धमंत्रसे, एकपाद सच्चिदानन्द, निरपेक्षसगुण ब्रह्महै। क्योंकि यह सत्व आदि तीनगुणोंके युक्त, ईश्वर और जीवोंका समुदायरूपहै, इसके आगे अन्य कोई सगुणब्रह्म नहींहै, इसलिये यह, एकपाद सच्चिदानन्द, निरपेक्ष सगुणब्रह्महै।

३—सुषुप्तिकी मध्य तुरीय अवस्थामें स्थित शुद्धसच्चिदानन्दात्मा सापेक्ष निर्गुणब्रह्महै। क्योंकि यह, विश्व तैजस और प्राज्ञनामी जीवकी अपेक्षा अविद्या रहितहोनेसे निर्गुणब्रह्महै। इसलिये यह सापेक्ष

निर्गुणब्रह्महै । ४—"त्रिपादस्यामृतं दिवि" इसका तीनपाद अविनाशीहैं। इस अर्धमंत्रसे त्रिपाद विशुद्ध ज्ञेयसच्चिदानन्द, सापेक्षनिर्गुणब्रह्महै। क्योंकि यह सुषुप्तिमें स्थित आत्माकी अपेक्षा, सदाही माया अविद्या रहितहोनेसे निर्गुणब्रह्महै, इसलिये यह सापेक्ष निर्गुणब्रह्महै। ५—"सदेव" इस छांदोग्यकी श्रुतिसे तथा "आत्मा वा" इस ऐतरेय श्रुतिसे महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें स्थित सत्यज्ञानानन्द, चतुष्पाद विशुद्ध निरपेक्ष निर्गुणब्रह्महै। क्योंकि सच्चिदानन्दकी उससे भिन्न अन्य कोई शुद्धब्रह्म अवस्था नहींहै। अतः वह निरपेक्ष निर्गुणब्रह्महै। इसप्रकार सत्यज्ञानानन्द इन पांच प्रकारके रूपोंमेंसे चारप्रकारके रूपोंसे सापेक्षब्रह्महै और पांचवें अनन्तरूपसे चतुष्पादविशुद्ध निरपेक्षनिर्गुणब्रह्महै। अर्थात् महाप्रलयमें, सत्यज्ञानानन्दका सबसे बड़ा निर्गुणरूपहै।

पूर्वोक्तरीतिसे वैदिकब्रह्मविचार में ब्रह्मका स्वरूप तथा उसका निर्गुणरूप नामवाला पहिला प्रकरण समाप्त हुआ।

२—सगुण ब्रह्म

चतुष्पादविशुद्धसच्चिदानन्दका एकपादविशुद्ध सच्चिदानन्दही सत्व आदि तीनों गुणोंके सहितहोनेसे सगुणब्रह्महै—

यजुर्वेदके पुरुष सूक्तमें मंत्र—

ॐ त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

(अविनाशी पुरुष) तीनपादसे ऊर्ध्व वा उत्कृष्ट स्वस्वरूपमें विद्यमानरहताहै, उसका एकपाद यहां अर्थात् सृष्टिमें विश्वरूप हुआहै, वह उस एकपादसे नाना प्रकारके भोग्य और भोक्ता रूपसे स्वयं ही विस्तारको प्राप्तहुआहै। इस मंत्रके अनुसार, सत्व आदि तीनगुणोंके सहित एकपाद सत्यज्ञानानन्द या अस्ति भाति प्रिय रूपही सगुणब्रह्महै। ब्रह्मके चारोंपाद पैर या भाग वास्तविक नहींहैं। क्योंकि ब्रह्म निरवयव और अप्रमेयहै। इसलिये पादोंकी कल्पनाहीहै। सच्चिदानन्दब्रह्मके चार पादोंको घोड़े आदि पशुओंके चारपादोंके समान नहीं समझना चाहिये क्योंकि घोड़े आदिका पैर कटकर अलग होजानेपरभी यह घोड़ेका पाद या पैरहै ऐसा कहाजाताहै। परन्तु सच्चिदानन्दब्रह्मके चारोंपाद

ह्मसे भिन्न अपनी स्वतंत्रसत्ता नही रखते । इसलिये ब्रह्मके चारोंपादों-
रुपयेकी चारचवन्नियोंके समान जाननाचाहिये । जिसप्रकार चार-
वन्नियां रुपयेसे अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखतीं, किंतु वह रुपया
हैं । इसीप्रकार ब्रह्मके चारपादोंको जानना होगा । जैसे चारचवन्नियों-
से एक चवन्नी, दो आना एक आना अधन्नो पैसा और पाईके रूपको
धारणकरतीहैं ऐसेही ब्रह्मके चारपादोंमेंसे एकपाद सृष्टिको प्राप्त हुआहै।
इसमेंभी जहां जहां इच्छाहै वहां वहां ईश्वरता और जीवताहै । शेष
सामान्य चैतन्य शुद्ध निर्गुणब्रह्महै ।

चतुष्पाद विशुद्ध ब्रह्मसच्चिदानन्दके एकपाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्मसच्चि-
दानन्दसे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन—

तैतरीय ब्रह्मानन्दवल्लीके छठे अनुवाकमें श्रुति— "सोऽकामयत।
बहु स्यां प्रजायेयेति" उस चतुष्पाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्म सच्चिदानन्दने एक-
पाद विशुद्धनिर्गुणब्रह्मसच्चिदानन्दकेद्वारा कामना या इच्छा की । मैं
प्रकट होउँ और नामरूपकेद्वारा वहुत होजाऊँ ।

ऐसेही उपनिषदोंमें जहां जहांपर भी सत्से या आत्मा आदि
नामसे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णनहै, वहां वहांपर चतुष्पाद विशुद्धब्रह्म
सच्चिदानन्दके एकपाद विशुद्धब्रह्म सच्चिदानन्दकेद्वाराही सृष्टिकी
उत्पत्तिका ग्रहणकरनाचाहिए । सृष्टिकी उत्पत्ति एकपाद विशुद्धब्रह्मसे-
ही बनसकतीहै, सगुणब्रह्मसे नहीं । क्योंकि सगुणब्रह्मता तो उसमें
इच्छाहोजानेसे उस एकपाद विशुद्धब्रह्मकीही विशेष अवस्थाहै । इस-
लिये विशुद्धब्रह्म एकपाद सच्चिदानन्दसेही सृष्टिकी उत्पत्तिको ग्रहण-
करना उचितहै ।

ऐतरेय उप० प्रथम खण्डमें श्रुति—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र
आसीन्नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति"—यह सब आगे
आत्माही था और कुछ नहीं था, उस एकपाद सत्यज्ञानानन्दरूप
आत्माने इच्छा की कि मैं सत्य आदि लोकोंको रचूँ ।

छान्दोग्य० अ० ६ खण्ड २ में श्रुति—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदे-
कमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—हे सोम्य, यह सब आगे एक-
मात्र अद्वितीय सत् था । उस सत्ने इच्छा की मैं प्रकट होऊँ और नाम

रूपकेद्वारा बहुत होजाऊँ।

यजुर्वेदके पुरुष सूक्तमें मंत्र—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

प्रजापति, सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थितहुआ मायाके ग
कारण कार्य या पिंड ब्रह्मांडमें प्रवेशकरताहै, वास्तवमें अजन्मा हो
भी कारण कार्यके रूपमें उत्पन्नहोताहै, ब्रह्मवेत्ता उसके परमार्थ
स्वरूपको अनुभवकरतेहैं, जिसमें समस्त भुवन स्थितहैं। इस मंत्र
ब्रह्मकोही जगत्‌केरूपमें उत्पन्न होनेवाला कहागयाहै।

ब्रह्म यह नाम नपुंसकरूपहै, परन्तु उसका सच्चिदानन्द
सर्वात्माहोनेसे स्त्रीके रूपमें और पुरुषलिंगमेंभीहै। इसीसे सृ
उत्पत्ति "तदैक्षत—यहांपर तत् नामसे और सोऽकामयत" यहांपर
इस नामसे दिखाईगईहै।

"तदैक्षत" इसमें तत् यह पद, "सोऽकामयत" इसमें 'स' यह
दोनोंही, चतुष्पाद विशुद्ध निर्गुणब्रह्मसच्चिदानन्दके स्मारकहैं। ऐ
और अकामयत इनसे, सबप्रकारकी इच्छाओं या कामनाओंका ग्र
करनाचाहिये।

मुंडक उप० मुं० १ खंड १ मंत्र ७—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केश लोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥

जिसप्रकार मकड़ी जालेको बनातीहै और निगल जातीहै
जैसे पृथ्वीमें अनेक प्रकारकी ओषधियां उत्पन्नहोतीहैं और जैसे जी
मनुष्यसे केश और रोम पैदाहोतेहैं इसीप्रकार अविनाशीब्रह्म सच्चि
दानन्दसे इस सृष्टिमें सब कुछ उत्पन्नहोताहै। यह मंत्रका अर्थ
तैतरीय उप० के छठे अनुवाकमें श्रुति—

"सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्
इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रवि
सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च वि
चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमि

चक्षते ।"

उस सत्यज्ञानानन्दने विचारकिया कि मैं जन्म ग्रहण करूं और बहुत होजाऊँ। इसके अनन्तर उसने तप किया अर्थात् अपने संकल्पका विस्तारकिया। उसने इसप्रकार संकल्पका विस्तारकरके जो कुछभी यह देखनेमें और समझनेमें आरहाहै इस समस्त जगत्की रचनाकी। इस जगत्की रचना करनेके अनन्तर वह स्वयं उसीमें साथ साथ प्रविष्ट-होगया। उसमें साथ साथ प्रविष्टहोनेके पीछे वह स्वयंही मूर्त और अमूर्त बतानेमें आनेवाले और बतानेमें न आनेवाले तथा आश्रय देने-वाले और आश्रय न देनेवाले, चेतना युक्त और जड़ पदार्थ तथा सत्य और झूठ इन सबके रूपमें वह स्वयंही होगया। जो कुछ भी यह दिखाई देरहाहै और अनुभवमें आरहाहै वह सत्य ब्रह्मही है। इसप्रकार ज्ञानी-जन कहतेहैं। यह इन श्रुतियोंका अर्थहै।

ब्रह्मको जगत्की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता—

पूर्वोक्त श्रुतियोंमें सत्यज्ञानानन्दब्रह्मको जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण कहागयाहै। जिसमेंसे कार्य बनाया जाताहै वह उपादानकारण होताहै, और जो कार्यको बनानेवाला होताहै वह निमित्तकारण कहलाताहै—जैसाकि मृत्तिका नाम मिट्टी उपादानकारण-है। कुंभार निमित्तकारणहै। बननेवाला घड़ा कार्य कहलाताहै। यहां उपादानकारण मिट्टी भिन्नहै और कुंभार अलगहै। इससे घटरूपी कार्य भिन्न निमित्त उपादानकारणवालाहुआ। परन्तु जगत्को रचनामें कुंभारका दृष्टान्त लागू नहींहै। क्योंकि ब्रह्म, जगत् रूपी कार्यमें व्यापकहै। अतः वह आपही जगत् बनताहै और अपने आपही बनानेवाला है। तात्पर्य यह कि बननेवाला और बनानेवाला आपहीहोनेसे वह जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारणहै। पंचदशीके चित्रदीप प्रकरण-मेंभी शुद्धब्रह्मसेही सृष्टिकी उत्पत्ति वस्त्रके दृष्टान्तसे कहीगईहै। श्लोक १ जैसे चित्रपटमें चार अवस्थाएं देखीगईहैं, ऐसेही परमात्मामेंभी चार अवस्थाएंहैं। श्लोक २ जैसे वस्त्र, धौत, घट्टित, लांछित और रंजित होताहै, ऐसेही परमात्मा, चित् अन्तर्यामी सूत्रात्मा और विराट कहाजाताहै। श्लोक ३ किसी अन्य द्रव्यके संबन्ध बिना वस्त्र, धौत

होताहै, मांडदेनेसे घट्टिता, मसिरूप चिन्होंसे युक्त लांछित और चित्र बनजानेसे रंजित होजाताहै। श्लोक ४ परमात्मा, माया और उसके कार्यसे रहित चित् कहाजाताहै, मायाके संबन्धसे अन्तर्यामी, सूक्ष्म-सृष्टिसे सूत्रात्मा और स्थूलसृष्टिद्वारा विराट कहाजाताहै। इसप्रकार शुद्धब्रह्मकीही चारों अवस्थाएं बतलाईगईहैं।

"सोऽकामयत।" "बहुस्यां"—उस आनन्दब्रह्मने कामनाकी बहुत होजाऊं। इसी कामना या इच्छाका नाम, रजोगुण और तमोगुणके-द्वारा मलिन न होनेकेकारण, शुद्धसत्वगुण प्रधानहोनेसे मायाहै। तथा रजोगुण और तमकेद्वारा मलिनहोजानेसे मलिनसत्वगुणप्रधान अविद्या है। एवं जगत्का बीजहोनेकेहेतु कारणशरीरहै।

इच्छाकी उत्पत्तिका समय और उसका रूप—

जिससे कि महाप्रलयकी आदि अवस्थामें ब्रह्मकी कारणता विलीन होनेलगतीहै और मध्य अवस्था शुद्धहै, अतः यह इच्छा महा-प्रलयकी अन्तिम अवस्थामें हुईहै। यह माया और अविद्या रूपी सामान्य इच्छा, महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें अनन्तब्रह्म सच्चिदानन्दसे भिन्न नहींहै, अतः इसे ब्रह्मसे भिन्न नहीं कहाजासकता। यह इच्छा, महाप्रलय-की अन्तिम अवस्थामें ब्रह्ममें प्रकट हुईहै, इसलिए इसको ब्रह्मसे अभिन्न-भी नहीं कहाजासकता। यह प्रतीत होरहीहै इससे यह असत् नहींहै, महाप्रलय आदिकी मध्य अवस्थामें तथा विदेहकैवल्यकी अवस्थामें यह नहीं रहतीहै इससे सत्भी नहींहै, इसीसे यह अनिर्वचनीय या अकथ-नीयहीहै। यह इच्छा, सत्व या प्रकारूप, रजस् या चंचलरूप, तमस् या आवरणरूप इन तीनों गुणोंवालीहोनेसे त्रिगुणात्मिका कहीजातीहै। तथा परिणामी या परिवर्तन स्वभाववालीहै। महाप्रलयकी मध्य आवस्थामें यह अव्यक्तरूपाहीहै, इसका अन्य कुछभी नाम नहींहै। सांख्यशास्त्रने इसका, उस समयकी अवस्थामें प्रधान नाम रखाहै। परन्तु वास्तवमें देखाजाए तो वहांपर केवल सच्चिदानन्दका अनन्त-रूप ब्रह्मही प्रधान होगयाहै, वहां यह किसी नाम या तर्कका विषय नहींहै।

यह यदि आदिके सहितहै तो अन्तवालीहै यह यदि अनादि है

तो फिर यह अनन्तहीहै। किन्तु ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें यह कुछभी वस्तु नहींहै। महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें यह विषमताको प्राप्त होगईहै। इस अवस्थामें इसका प्रधान प्रकृति माया अविद्या कारणशरीर या आनन्दमय आदि नाम होगयाहै।

इच्छाका आश्रय और विषय---

यह तीनगुणोंकी अवस्थारूपी इच्छा, ब्रह्मकोही अपना आश्रय-बनाकर रहतीहै-इसीसे यह ब्रह्माश्रया कहीजातीहै। और ब्रह्मकोही आच्छादन करतीहै-इसीसे यह स्वविषया कहलातीहै।

भानुप्रभा संजनिताभ्रपंक्ति-र्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा।
आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्वं, तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम्॥

जिसप्रकार सूर्यके तेजसे उत्पन्न हुई मेघमाला सूर्यको ढांपकर स्वयं फैलजातीहै-उसीप्रकार आत्मासे प्रकट हुई अहंवृत्ति, आत्माकोही आच्छादितकरके स्वयं स्थित होजातीहै। विवेक चूड़ामणिके इस १४४ श्लोकानुसार, यह इच्छाही आनन्दमय आदि कोशोंका रूप ग्रहणकरके शुद्धसत्वगुणप्रधानहोनेसे माया और मलिन सत्वगुणप्रधानहोनेपर ब्रह्म-की आच्छादक होजातीहै। इसका इच्छाके रूपमें होजानाही सब अनर्थोंका हेतुहै और यह अनिच्छारूपसे दुखका कारण नहींहै। इसी-लिये श्रुतियोंने सुषुप्तिकी अवस्थामें जीवकी ब्रह्मरूपता स्वीकारकीहै, इसीका आगे विशेषरूपसे वर्णन किया जारहाहै।

इच्छाकाही विशेष नाम---

इस माया या इच्छाका नाम कोशभीहै। कोश नाम आवरण ढकने या पड़देकाहै। यह आनन्दमयकोश या सामान्य इच्छाही ब्रह्मके सच्चिदानन्दरूपको आच्छादनकरके उसे जगत्के रूपमें बनादेतीहै। इसीसे इसे कोशनामसे कहागयाहै। इसी आनन्दमयकोशके विषयमें ऐतरेय० के खंड २ में ऐसी श्रुतिहै। "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिनाम द्वास्तदेतन्नान्दनं।" सदात्मा इसी आनन्दमय या कारणशरीररूपी वृत्तिका विदीर्ण या विस्तारकरके वह इसीकेद्वारा प्रविष्टहोगया। भावार्थ यह कि वह विज्ञानमय आदि कोशोंमें वहिर्मुख या वाहर जानेकेलिए तैयारहोगया। यह आनन्दमयही आनन्दब्रह्मके

प्रवेशके या वाहर जानेकेलिये विद्दति नाम द्वा:=विस्तृत द्वारहै । या वड़ा दर्वाजाहै । यह आनन्दमय, आनन्दप्रधानहोनेसे नान्दन नामवाला है । प्रकरण प्राप्त तैतरीयकी "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"—इस श्रुति-काभी यही अर्थहै कि उस सच्चिदानन्दने इस वृत्तिको रचा और इसको रचकर उसीने इसीमें प्रवेशकिया । इसी इच्छावृत्तिरूपी कोश या ढकनेमें आजानेकेकारण या उसपर ऐसा आवरण आजानेसे ब्रह्मके स्थानमें मांडूक्य उपनिषदकी श्रुतिके अनुसार इसका नाम अब प्राज्ञ होगया । ब्रह्मात्मका प्राज्ञ नाम इससे हुआकि इसमें, सभी विशेषज्ञानां घनी भूत या एकरूपहोकर रहतेहै ।

पहिली इच्छा—

उपरोक्त "सो अकामयत"—उसने कामनाकी, इस श्रुतिसे माया अविद्यारहित, शुद्ध सच्चिदानन्दब्रह्ममें पहिली इच्छा, अस्मि-हुं इस-प्रकारकी हुई—जोकि सात्विकी राजसी आदि सामान्य इच्छाओंका सामूहिकरूपहै । जिससेकि वह तीनपादोंसे विशुद्ध या इच्छा रहित निर्गुण ब्रह्म बनारहा और उसका एकपाद प्राज्ञोंका समूह सगुणब्रह्म हो-गया । निर्गुणब्रह्ममें जहांपर शुद्धसात्विकी अस्मि ऐसी सामान्य इच्छा हुई, वहां वह निरपेक्ष अन्तर्यामी ईश्वर होगया, जोकि प्राज्ञविशेष या पुरुषविशेष ईश्वरभी कहाजाताहै । ब्रह्ममें, जहां जहांपर शुद्धसात्विकी इच्छाकी अपेक्षा मलिनसात्विकी इच्छाहुई, वहां वहांपर वह प्राज्ञनामी सापेक्ष ईश्वर होगया । कारणकि प्रत्येकप्राज्ञ, अपने २ कारणशरीरका नियन्ताहोनेसे ईश्वरहै और एक दूसरेकी अपेक्षा छोटा बड़ा होनेसे सापेक्ष ईश्वरहै । जिससेकि कामना या इच्छा वृत्तियां असंख्यहैं—इससे प्राज्ञभी असंख्यहीहैं । क्योंकि ये प्राज्ञ, सूक्ष्मशरीरकेद्वारा कर्ता भोक्ता-रूपी जीवका रूप धारणकरतेहैं—इसीसे ये सभी प्राज्ञ, जीव कोटिमें मानेगएहैं किन्तु ईश्वर कोटिमें गौणहैं । यहांसे ब्रह्मकी कारण अवस्था आरम्भ हुईहै ।

दूसरी इच्छा—

"बहुस्यां प्रजायेयेति" मैं वहुत होजाऊँ, अनेक प्रकारसे प्रकट होऊँ इस उत्तरार्ध श्रुतिसे, मैं वहुत होजाऊँ इसप्रकारकी दूसरी इच्छा, ब्रह्म-

एकपादरूप सभी प्राज्ञोंमें सूक्ष्मशरीरोंकेलिये हुई। यहां ब्रह्मकी रण अवस्था पुर्ण होगई। इसप्रकार निर्गुण चतुष्पादब्रह्मके एकपाद स्त भाति प्रियने शुद्धसत्वगुणप्रधानमाया उपाधि और मलिनसत्व-प्रधान अविद्या उपाधि या आनन्दमयकोश या कारणशरीर या मनावाले संपूर्णप्राज्ञोंकेरूपद्वारा निश्चय करनेकी कामानाकी और नी इच्छाशक्तिको प्रेरणाकी, तव सात्विकी इच्छाने उसकी आज्ञा कारकरतेहुए बुद्धि और बुद्धिकेद्वारा निश्चयका रूप धारणकिया। ां से ब्रह्मरूप प्राज्ञको कर्तारूप अवस्थाका आरम्भ होगया। इसके न्तर सच्चिदानन्दब्रह्मने समग्र प्राज्ञोंकेद्वारा संकल्प करनेकी कामना-, तवतो कामनाने बुद्धिकेद्वारा मन और मनकेद्वारा संकल्पका रूप रणकिया। उक्त ब्रह्मने सुननेकी चाहकी और इच्छाको प्रेरणाकी, इच्छाने मन या अहंकारकेद्वारा शब्द और शब्दकेद्वारा श्रोत्र द्रियकारूप धारणकिया। फिर ब्रह्मने स्पर्श करनेकी कामनाकी और मनाको प्रेरितकिया तवतो कामनाने शब्दकेद्वारा स्पर्श और स्पर्श-द्वारा त्वचा इन्द्रियका रूप धारणकिया। उसके पीछे ब्रह्मने देखनेकी हकी और चाहको प्रेरणाकी, तव चाहने स्पर्शकेद्वारा रूप और केद्वारा नेत्र इन्द्रियका रूप ग्रहणकिया। फिर ब्रह्मने स्वाद लेनेकी वनाकी और भावनाको प्रेरित किया, तव भावनाने रूपकेद्वारा रस र रसकेद्वारा अपनेको रसना इन्द्रियके रूपमें वनालिया। इसके पीछे ने गन्ध लेनेकी कामनाकी और कामनाको प्रेरिणाकी, तवतो मनाने रसकेद्वारा गन्ध और गन्धकेद्वारा नासिकाका रूप ग्रहणकिया। पांच ज्ञानेन्द्रियां या जाननेवाली इन्द्रियां हुईहैं। फिर ब्रह्मने श्वास की कामनाकी, तव राजसी कामनाने प्राण अपान समान व्यान र उदान नामक पांचों प्राणोंका रूप धारण किया। इसके अनन्तर स्त भातिप्रियने अखिल प्राज्ञोंकेरूपद्वारा बोलनेकी इच्छाकी, और च्छाको प्रेरणाकी, तव राजसी इच्छाने शब्दकेद्वारा वागिन्द्रिय या णीका रूप धारण किया। उक्त ब्रह्मने ग्रहण करनेकी इच्छाकी, तो च्छाने स्पर्शकेद्वारा पाणी या हाथका रूप ग्रहण किया, फिर ब्रह्मने लनेकी इच्छाकी, तव इच्छाने अपनेको रूपकेद्वारा पाद या पैरोंके

रूपमें परिवर्तित किया। फिर ब्रह्मने आनन्द लेनेकी इच्छाकी,
इच्छाने रसकेद्वारा उपस्थ इन्द्रियके रूपको धारण किया। फिर
ब्रह्मने त्यागनेकी इच्छाकी, तब इच्छाने गन्धकेद्वारा गुदा इन्द्रि
रूप धारण किया। ये पांचों कर्मेन्द्रियां या कर्म करनेवाली इ
बनगईं। बुद्धि मन पांचज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां और
प्राणोंको मिलाकर १७ तत्वोंका यह सूक्ष्मशरीर बनगया। इतनी
सृष्टिहै। इसी सूक्ष्मशरीरकेकारण सच्चिदानन्द ब्रह्म पर अब ती
या आवरण और आगये। बुद्धि प्रधान पांच ज्ञानेन्द्रियां विज्ञा
कोश, तथा मन जिसमें प्रधान पांच ज्ञानेन्द्रियां मनोमयकोश, एवं
प्रधान पांचकर्मेन्द्रियां प्राणमयकोशहै। सत्यज्ञानानन्दके स्वरू
समस्त प्राज्ञोंकी इसी सूक्ष्मशरीर या स्थानकेकारण अब तैजस
होगई। प्राज्ञका तैजस यह नाम इसलिये हुआकि इसमें, सभी विशे
प्रकाशित होगए या चमक उठेंहैं। यह कर्ताका पूर्ण रूप होगया।
सत्वगुणप्रधान इच्छावाले अन्तर्यामी या पुरुष विशेष ईश्वरने अपने
अपनी इच्छासे हिरण्यगर्भ नामका सूक्ष्मशरीर बनालिया, उसी म
में आजानेकेकारण अन्तर्यामीका नाम तब अपरब्रह्म या सूत्रात्मा
गया। उसका सूत्रात्मा यह नाम इसलिएहैकि उसके ज्ञानमें सम्पूर्ण
प्रोत या पिरोई हुईहै।

तीसरी इच्छा–

इसके पीछे प्राज्ञोंके रूप तैजसोंको स्थूलशरीरोंकी इच्छा उ
ऐसेतो ये स्थूलशरीर, इन्हींके पूर्वमें किएहुए कर्मोंके फल या परिण
तोभी ये इसके बनानेमें पहले तो असफलही रहे। सूक्ष्मशरीरतक
स्वतंत्र रहे। बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ३–"अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योति
स्वप्न अवस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योति या स्वयं प्र
होताहै, इस श्रुतिके कथनके अनुसार ये स्वतंत्रही रहे। परन्तु
पीछे इनको दूसरे प्रकाशककी आवश्यकता हुई। जिससे कि इस क
करनेमें सम्पूर्ण तैजसोंकी इच्छाशक्ति काम नहीं करसकी-इसी
समस्त तैजसोंको अपनेलिये बृहत्कार्यके करने, वाले एक स्वा
अपेक्षा हुई, तब सब तैजसोंने, शुद्धसत्वगुणप्रधानमाया या इच्छा

अपरब्रह्मान्तर्यामी सूत्रात्मासे प्रार्थनाकी कि आप हमारेलिये वाह्य-भोगोंको भोगनेकेयोग्य स्थूलशरीरोंको रचदीजिए।

तीसरी इच्छा–

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः" उस आत्मासे आकाश पैदा हुआ। इस तैतरीय श्रुतिसे, तीसरी इच्छा, हिरण्यगर्भ या अपर-ब्रह्ममें, स्थूलभूतोंकी उत्पत्तिकेलिये हुई। तब अपरब्रह्मने इनकी प्रार्थना स्वीकारकरते हुए तमोगुणसे आकाश, आकाशकेद्वारा वायु, वायुकेद्वारा तेज, तेजकेद्वारा जल, और जलकेद्वारा पृथ्वीको रचकर इन पांच स्थूल-भूतोंका पंचीकरण या इनको मिश्रित किया। प्रत्येक भूतके आधे आधे भागमें दूसरे भूतोंका चौथा चौथा भाग मिलायागया-ब्रह्मसूत्र अ० २ पाद ४ सूत्र २२ "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद:" इसके अनुसार, यह पृथ्वीहै यह जलहै यह तेजहै इसप्रकार इन भूतोंका विशेषरूप कथन करनेमें आया और आरहाहै। फिर इनकेद्वारा जीवोंके निवासार्थ भू से आदि लेकर सत्यलोक पर्यन्त सात लोकों या स्थानोंको बनाकर और सात नीचेके अतल आदि लोकोंको बनाकर सूत्रात्माने प्रथम अपनेलिए शुद्ध-सत्वगुण आदि सामग्रीकेद्वारा विराट सृष्टिके मुख्य अंग, सूर्य नामवाले शरीरको बनाया, इसी उपाधि या स्थानमें निवासकरनेकेद्वारा अपर ब्रह्मका नाम अब वैश्वानर होगया। क्योंकि यह विश्व नामवाले सभी नरोंके नेत्रोंको प्रकाशदेताहै, इसीसे इसका नाम वैश्वानर हुआहै। अपरब्रह्मने इन तैजस जीवोंके वाह्यविषयोंके भोगनेयोग्य और इनके-ही कर्मोंके फल स्वरूप तथा मैथुनी या स्त्रीपुरुषोंकेद्वारा सृष्टि उत्पन्न करने योग्य समग्र स्थूलशरीरोंको रचदिया या तैजस नामवाले सभी जीवोंपर इन स्थूलशरीरोंका खोल चढ़ादिया। ब्रह्मात्मा पर अब यह अन्नमय नामका पांचवां कोश या आवरण आगया। उसके अनन्तर वे सभी तैजसजीव, आगेकेलिये स्थूलशरीरोंको बनानेकेलिये स्वतन्त्र हो-गए। यह कथा ऐतरेय उप० खण्ड २ में "ता एनमब्रुवन्नायतनं नःप्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठता अन्नमदामेति"—वे जीव परमात्मासे बोलेकि हमारे-लिये स्थान बनादीजिए, जिसमें स्थित होकर हम लोग, अन्न खासकें। इसश्रुतिके आधारपर लिखी गईहै।

जिससे कि ये तैजसजीव, मोक्ष अवस्थामें पहुंचकरभी आकाश आदि पांचभूतोंको और इन भू या पृथिवी आदि लोकोंका अभाव या इन्हें लीन नहीं करपाते, अतः इतनी सृष्टि अपरब्रह्मके संकल्पसे रची-गईहै और अन्तमें उसीकी इच्छासे लीन होवेगी। यही बात ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ "जगद् व्यापार वर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वात्" ॥१७॥ "प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारक मंडलस्थोक्तेः" ॥१८॥ इन दोनों सूत्रोंमें कहीगईहै। इनका अर्थ प्राप्यब्रह्म प्रकरणमें लिखाहै। सच्चिदानंद ब्रह्मात्माके रूप प्राज्ञ और प्राज्ञके रूप तैजस नामवाले प्रत्येक जीवने इस उपाधि या स्थानकेद्वारा अपना विश्व नाम ग्रहण किया। एकपाद ब्रह्म सत्यज्ञानानन्दके इन्हीं स्थूलशरीरोंकेद्वारा देव दानव मानव पशु पक्षी कीट और पतंग आदि अनेक नाम होगए।

पहिली इच्छा, निर्गुण शुद्धसच्चिदानन्द अनन्तब्रह्ममें हुई। उसीकेद्वारा उसका मायाके सहित ईश्वरान्तर्यामी नाम होगया और अविद्याके सहित उसके प्राज्ञ नाम होगये। दूसरी इच्छा, सूक्ष्मशरीर उत्पन्नकरनेकेलिये ईश्वरमें और प्राज्ञोंमें हुई। उसी सूक्ष्मशरीरकेद्वारा ईश्वरका नाम अपरब्रह्म हुआ, अन्य प्राज्ञोंके नाम तैजस होगये। तीसरी इच्छा, पांच स्थूलभूतोंकी उत्पत्तिकेलिये अपरब्रह्ममें हुई। और तैजस जीवोंमें इच्छा, उन स्थूलभूतों तथा भूतोंके कार्योंके भोगनेकेलिये हुई। अबभी सुषुप्तिके अनन्तर होतीहै।

इसप्रकार ब्रह्मात्माकाही सृष्टिकालमें होनेवाली अब सुषुप्तिकी मध्य तुरीय अवस्थामें इच्छारहितहोनेसे शुद्ध अकर्ता अभोक्ता रूपहै, और मांडूक्य उप० की "नान्तःप्रज्ञं" इत्यादि श्रुतियोंसे आत्माब्रह्म यह नामहै और यह जाग्रत स्वप्न और सुषुप्तिकी अन्तिम अवस्थाकी अपेक्षा-सेभी ब्रह्महै। तात्पर्य यहकि इसका अकर्ता अभोक्ता शुद्ध आत्माब्रह्म यह नामहै। तथा इसीका हृदयके मध्य सुषुप्तिकी अन्तिम कारण अवस्थामें भोक्तारूप प्राज्ञ नामहै। एवं स्वप्न अवस्था कंठमें निवास-होनेसे ब्रह्मात्माका ही प्राज्ञकेद्वारा भोक्ता और कर्तारूप तैजस नामहै। और जाग्रत अवस्था दाहिने नेत्रमें निवासहोनेसे सच्चिदानन्द ब्रह्मा-त्माकाही प्राज्ञ एवं तैजसकेद्वारा भोक्ता कर्ता और कर्म करताहुआ

 ५५६

विश्व नामहै । इसका विश्व नाम इसलिये हुआहै कि इसमें समस्त
शेषज्ञान बाहर आचुकेहैं। इसरीतिसे वह एकसे अनेक हुआहै । ऐत-
य उप० के अनुसार, वाणीका देवता अग्निहै, नासिकाका देवता वायुहै,
त्रका देवता सूर्यहै, श्रोत्रकी देवता दिशाएहैं, त्वचाके ओषधि और
नस्पतियां देवताहैं, मन या अन्त: करणका देवता चन्द्रमाहै, गुदाका
वता यमहै, और उपस्थका जल देवताहै। इस पाठको अन्य देवताओं-
काभी उपलक्षण समझना चाहिये। अत: हाथोंका देवता इन्द्रहै, पादका
वता विष्णुहै, और रसनाका देवता वरुणहै । अस्तु

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" छान्दोग्य० की इस श्रुतिसे यह समस्त—
विश्व ब्रह्मकाही स्वरूपहै । मुंडक उप० मुं० २ खंड १ मंत्र १ "तदेत—
त्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा: । तथाक्षरा-
द्विधा: सोम्य भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" हे सोम्य = प्रिय, वह सत्यहै
कि जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे उसीके समान रूपवाली हज़ारों चिन्गारियां
नेक प्रकारसे प्रकट होतीहैं, उसीप्रकार अविनाशीब्रह्मसच्चिदानन्दसे
नेकप्रकारके चराचर पदार्थ उत्पन्नहोतेहैं और अन्तमें उसीमें लीन-
जातेहैं । इस मंत्रसे यह बात कहीगईहै कि यह जगत् ब्रह्मकाही
वर्तहै । विवर्त नाम उसकाहै जो वस्तु अपने स्वरूपको न त्यागकर
सरे रूपमें प्रतीत होनेलगे या भासनेलगे। जैसाकि अग्नि, अपने उष्ण
काश या गरम चानणेके रूपको न त्यागती हुई चिन्गारियोंके रूपमें
सने लगतीहै। जैसाकि सुवर्ण या सोना, अपने रूपको न त्यागता हुआ
गन आदि आभूषणोंके रूपमें प्रतीतहोताहै। और जैसे नदी आदिका
ल, अपने रूपको न छोड़ताहुआ तरंग या लहरोंके रूपमें प्रतीतहोताहै।
सीप्रकार एकपादब्रह्म, अपने सच्चिदानन्दरूपको न त्यागताहुआ नाम-
र या कारण कार्यके रूपमें भासने लगताहै । इसीका नाम विवर्तवाद
विशेषरूपसे वर्तना कहाजाताहै । यह विषय मनुष्यके दृष्टान्तसे
सीप्रकार समझमें आसकताहै । इसीलिये पहले दृष्टांतको लिखदेना
चित प्रतीतहोताहै । जिससेकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये
रोंही नाम, वर्ण विभाग या डिपार्टमेंटके वाचकहैं। परन्तु आज ये
रों नाम जाट गूजर आदि कर्म रहित नामोंकी भान्ति केवल वंशकी

परम्परा पर आरूढ होगएहैं, इसलिये इन नामोंका कर्मपर उदाहर लेकर, यूँ समझना चाहिए—जैसाकि मनुष्य, एक सामान्य नाम रूपवाली वस्तुहै, जबतक इसके साथ किसी विशेष कर्मका सम्बन्ध होजाता तबतक यह केवल मनुष्यही कहलाताहै। जब मनुष्यके किसी अध्यापन या पढ़ाना आदि विशेष कर्मका सम्बन्ध हुआ तब का केवल मनुष्य नाम नहीं रहताहै। इसका आचार्य उपाध्याय मंत्री, व्यापारी, किसान नाई या कुम्भार आदि विशेष या मि नाम होजाताहै और पुत्र आदिके सम्बन्धसे पिता आदि मिश्रित होजाताहै। यह तो मनुष्यके दृष्टान्तसे मनुष्यका विवर्त सिद्ध हु इसीप्रकार अब दार्ष्टान्तमें ब्रह्मसच्चिदानन्दका विवर्त समझना चाहि वह इसप्रकारहै—सत्यज्ञानानन्द या सत् चित् आनन्द या अस्ति प्रिय, यह एक सामान्यरूपहै. जबतक इसमें अनन्तत्व या अनन्त तबतक यह परब्रह्म या निर्गुणब्रह्म कहलाताहै। अनन्त ब्रह्मका सच्चिद्वानन्दरूप, केवल महाप्रलयकी मध्य अवस्थामेंहीहै। जब ब्रह्म या सबसे बड़े सच्चिदानन्दके एकपादके साथ शुद्धसात्विकी का सम्बन्ध हुआ और मलिनसात्विकी कामनाका मेल हुआ, तब विशेष या मिश्रित नाम अन्तर्यामी और प्राज्ञ नाम होगया। ऐसा कारण और भोक्तारूप, महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें हु ब्रह्मकी प्रेरणासे जब इच्छाने महत्तत्व और बुद्धि तथा बुद्धिकेद्वार या अहंकार और मनकेद्वारा पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच प्राण और कर्मेन्द्रियोंके रूपको धारण किया तब उसका अन्तर्यामी और प्र द्वारा विशेष या मिश्रित नाम अपरब्रह्म और तैजस नामहुआ। स दानन्दब्रह्मका ऐसा भोक्ता और कर्तारूप, कर्तापनकी स्वप्न अ या सूक्ष्मशरीरकी पूर्ण अवस्थामें हुआहै। ब्रह्मकी प्रेरणासे जब इ अपरब्रह्मद्वारा रचेगए स्थूल शरीरोंके रूपको धारण किया, तब उ अन्तर्यामी और प्राज्ञ तथा सूत्रात्मा एवं तैजसकेद्वारा विशेष या मि नाम वैश्वानर और विश्वनामहुआ है। सच्चिदानन्दब्रह्मका ऐसा कर्ता और कर्म करताहुआ रूप, जाग्रत अवस्थामें होगया। इस जगत्, सच्चिदानन्दब्रह्मकाही विवर्त या विशेष वर्तना कहलाताहै

तात्पर्य यह है कि बृहदा० अ० २ तीसरे ब्राह्मणकी "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसा समझना चाहिए कि एकपाद शुद्धसच्चिदानन्दब्रह्मके, ब्रह्म अन्तर्यामी अपरब्रह्म और वैश्वानर ये चारोंपाद सूर्य देवता विषयकहोनेसे अधिदैव कहेजातेहैं। क्योंकि ब्रह्म-का देवताओंमें सबसे उत्तम तथा बड़ा आदित्य रूपहीहै। उसी ब्रह्मके आत्मा प्राज्ञ तैजस और विश्व ये चारोंपाद, मनुष्यशरीर विषयकहोने-से अध्यात्म कहलातेहैं। क्योंकि ब्रह्मका अध्यात्माओंमें, कर्मयोनिहोने-से सबसे उत्तम मनुष्य शरीरही है। इन चारोंपादोंमें तीन तीन पाद विवर्तहैं और चौथा ब्रह्मात्मा इनमें अनुगत या व्यापकहै। या यूँ कहो कि ब्रह्मसच्चिदानन्दही नामरूपात्मक जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणहै। इस प्रपंचमें, सत्यज्ञानानन्दकी माया या इच्छाने तो अपने स्वरूपका त्याग न करतेहुए प्रत्येक वस्तुके नामरूपका स्वरूप ग्रहण कियाहै। वस्तुहै तथा भासती है और प्रिय है, इस रीतिसे प्रत्येक वस्तुके साथ ब्रह्मका सच्चिदानन्द या अस्ति भाति प्रिय रूप अनुगत या व्याप्तहुआहै। एक वस्तु यदि एक व्यक्तिको प्रिय नहींहै तो वही वस्तु दूसरे व्यक्तिको अवश्यही प्यारीहै। अतः वह प्रियरूपहीहै।

"बहुस्यां" बहुत होजाऊँ। "तदात्मानं स्वयमकुरुत" उसने स्वयंही अपने आपको जगत्के रूपमें बनालिया। इन श्रुतियोंके अनुसार, सत्या-त्मा ब्रह्मकी कीहुई बहुभवन प्रतिज्ञा सत्य या सफल होगई।

इसके विपरीत क्रमसे सत्यात्माब्रह्मके विवर्तकी समाप्ति समझ-नी चाहिए। वह इसप्रकारहै—जिस समय हमारी वृत्ति अपने शरीर-या किसी दूसरी वस्तुकी बनावट पर ध्यान देतीहै, तब यह सच्चि-दानन्द ब्रह्मात्मापर अन्नमय नामका कोश या, पड़दाहै, यह पांचवां कोशहै, इसीकेद्वारा ब्रह्मात्माका वैश्वानर और विश्वनाम होताहै। जब हमारी वृत्ति किसी स्थूलकार्यको करतीहुई उसमें अंधा-धुंद लगी-रहे, तब यह ब्रह्मात्मापर प्राणमय नामका कोश या आवरणहै, यह चौथा कोशहै। जब हमारी वृत्ति किसी कार्यको निश्चय न करनेसे उसमें संकल्प और विकल्प करतीहै, तब यह आनन्दब्रह्मात्मापर मनोमय नामका कोश या ढकनाहै, यह तीसरा कोशहै। जब हमारी वृत्ति

किसी कार्यको निश्चित करलेतीहै, तव यह ब्रह्मात्मापर विज्ञानमय का कोश या आवरणहै, यह दूसरा कोशहै, यह ब्रह्मात्माकी कर्ता अव है। इसीकेद्वारा ब्रह्मात्माका नाम अपरब्रह्म और तैजस होताहै हमारी वृत्ति किसी अनुकूल वस्तुके दर्शन प्राप्ति या उसके एकाग्र होगईहै, या सुषुप्तिकी आदि या महाप्रलयकी आदि अव या सविकल्प समाधिमें या ब्रह्मलोकमें जाकर क्रममुक्तिमें प्रा अपरब्रह्मके समान सत्यसंकल्प आदि ऐश्वर्यके सुखभोगमें एकाग्र है तव यह ब्रह्मात्मापर, माया अविद्या कारण या वीजरूपी आन नामका कोश या आवरणहै, यह पहिला कोशहै, यही ब्रह्मा कारणरूप और भोक्तारूप अवस्थाहै, इसीकेद्वारा सदात्माब्रह्मका अन्तर्यामी और प्राज्ञहै। जव हमारी वृत्ति, सुषुप्तिकी मध्य या प्रलयकी मध्य अवस्थामें या निर्विकल्प समाधिमें या विदेहकैवल्य लीन होजातीहै या होजाएगी, तव यह सच्चिदानन्दब्रह्मात्माकी तीत अविद्यातीत कारणातीत गुणातीत और कोशातीतरूप अवस्थाहै, इसमें सत्यात्माब्रह्मकी कारणता या वीजरूपताके होजानेसे उसमें अन्तर्यामी ईश्वरता और प्राज्ञ ईश्वरताके समा जानेपर, सत्यज्ञानानन्दब्रह्मात्माका, निर्गुण निराकार और शुद्ध नाम होगयाहै, इस अवस्थामें सच्चिदानन्दब्रह्मात्माका सम्पूर्ण वि समाप्त होजताहै।

विशेष विचार—

जोलोग, विश्वनामी जीवोंका समुदाय वैश्वानरहै, और तै की समष्टि सूत्रात्माहै एवं प्राज्ञोंकी समष्टिका नाम ईश्वरान्तर्य ऐसा ईश्वरकारूप वतारहेहैं—उनका यह कथन इस कहावतके स जैसे कोई कहेकि एक मूर्ख मूर्खहै और मूर्खोंका समूह पण्डितहै, यह असंभवहै। क्योंकि सवके सव मूर्ख ही तो है, ऐसेही उक्त प सव मलिनसत्वगुणप्रधान अविद्यावाले जीवहीहैं किन्तु इनमें शुद्ध गुणप्रधानमायायुक्त कोईभी एक उपास्य तथा फलप्रदाता ईश्वर नहीं होता। और जोलोग, ब्रह्ममें सृष्टिका अध्यारोप, अपवादके ऐसा मानतेहैं, अर्थात् उपनिषदोंमें जो अनेकप्रकारसे सृष्टिकी उत्प

वर्णनहै, वह अध्यारोप नाम केवल कल्पनामात्रहै, और वह अपवादके-लिए या निषेधकेलियेहै। वास्तवमें ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्तिहुई नहींहै, ऐसा मानतेहैं–इस पक्षमेंभी सृष्टि स्वरूपसेही अनादि सिद्ध होतीहै, प्रवाहरूपसे नहीं। क्योंकि यह प्रवाहरूपसे तबही अनादि बनसकतीहै, जबकि इसकी उत्पत्ति और प्रलयको मानलियाजाए। जैन आदि अन्य कई मतभी सृष्टिको स्वरूपसे अनादि मानतेहैं। इसीलिये उनके मतमें सृष्टिकर्ता कोई ईश्वर नहींहै। सृष्टिकी उत्पत्ति न माननेसे उक्त पक्षभी इस अंशमें जैन आदि मतोंके समानही होजाताहै। और जोलोग, छान्दोग्य की "सदेव" श्रुतिके सत्, इस पदसे तथा तैतरीयकी "सोऽ-कामयत" श्रुतिके स, इस पदसे एवं ऐतरेयकी "आत्मा वा०" श्रुतिके आत्मा, इस पदसे शुद्धसत्वगुणप्रधानमायाविशिष्ट सर्वज्ञ आदि गुणोंवाले व्यापकब्रह्मको ग्रहणकरके उसको जगत्की उत्पत्तिका अभिन्न निमित्तो-पादानकारण बतारहेहैं, उनके मतमें ये दोष अनिवार्य प्राप्त होरहेहैं।

१–यदि व्यापकब्रह्म, शुद्धसत्वगुणप्रधानमायाको अपनेलिये रखकर और मलिनसत्वगुण आदि गुणोंकेद्वारा अन्य जीवोंका कारण बनकर उनकी उत्पत्तिकरके उन जीवोंमें अपने सर्वज्ञ आदि गुणोंके सहित स्थिति पा-रहाहै, तब प्रत्येक शरीरकी उपाधिके भेदसे जीवभेदके समान जितने-भी जीवहैं, उतने ब्रह्मभी भिन्न भिन्नही मानने पड़ेंगे, अर्थात् ब्रह्मभी असंख्यही मानने पड़ेंगे, सबमें एकही ब्रह्म नहीं बनसकेगा।

२—उसे व्यापक माननेसे अपरब्रह्मका लोकविशेष ब्रह्मलोकभी सिद्ध नहीं होसकेगा तथा श्रुतियों और ब्रह्मसूत्रके सूत्रोंसे सिद्ध हुई क्रममुक्ति भी नहीं बनपड़ेगी।

३—यदि उसको लोकविशेष ब्रह्मलोकमेंभी अपरब्रह्मके रूपमें मानलोगे तब शुद्धसत्वगुणकाभी भेद करनाहोगा, एक अतिशुद्धसत्व-गुणप्रधानहोनेसे बड़ा ब्रह्म और दूसरा केवल शुद्धसत्वगुणप्रधानहोनेसे छोटा ब्रह्म, ऐसा मानतेहुए ब्रह्मको दो रूपोंमें खंडित करना होगा अर्थात् उसके वैश्वानर और सूत्रात्मा या अपरब्रह्म इन दोनों पादोंको आदित्यस्थानी ब्रह्मलोकमें एकदेशी बनातेहुए अन्तर्यामी और ब्रह्मनाम के दोनों पादोंको सर्वव्यापक कहतेहुए सर्वज्ञ ब्रह्मको दो भागोंमें बांटना

होगा।

४—ब्रह्मका, जीवोंमें अन्तर्यामीरूपसे निवासहोनेपर अपने अत्यन्त संनिहितहोनेसे जीवको मुक्तिमें ब्रह्मकीही समीपता प्राप्त करनी होगी किन्तु श्रुतियों शास्त्रोंसे सिद्ध हुई स्वस्वरूपावस्थिति कैवल्यमुक्ति नहीं प्राप्तहोगी।

५—वृहदा० अ० ३ ब्रा० ७ श्रुति ८ "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मंता नान्योऽतोस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्तम्" आत्मासे भिन्न कोई द्रष्टा या देखनेवाला नहीं, आत्मासे भिन्न कोई सुननेवाला नहींहै, आत्मासे अलग कोई मननकरनेवाला नहीं है आत्मासे भिन्न कोई जाननेवाला नहींहै, यही तेरा आत्मा या अपना स्वरूप अन्तर्यामीहै, इससे भिन्न सब विनाशीहै। यह श्रुतियोंका अर्थहै। इन श्रुतियोंने एक शरीरमें एकही द्रष्टा श्रोता मंता विज्ञाता और अन्तर्यामी मानाहै। इन श्रुतियोंके विपरीत, शरीरमें जीव और सर्वज्ञ ब्रह्म दोनोंको मानलेनेसे पांचवां दोष श्रुतियोंसे विरोधरूप होजाएगा। तात्पर्य यहहै कि इन लोगोंके मतमें, शुद्धसत्वगुणप्रधान सर्वज्ञ व्यापक ब्रह्मको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण माननेसे उक्त ये पांचों अच्छेद्य दोष प्राप्त होगएहैं।

परन्तु मेरे पक्षमें ऐसा कोई दोष नहींहै। क्योंकि मैंने तो पूर्वमें ऐसा लिखाहै कि सत्व आदि तीनों गुणोंके युक्त एकपाद सच्चिदानन्द ब्रह्म, अपने समस्त प्राज्ञोंकेरूपद्वारा जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारणहै। अतः उसका कार्य जगत्भी त्रिगुणात्मकहीहै। शुद्धसत्मगुण प्रधान सर्वज्ञ आदिगुणोंसे संपन्न आदित्यनिवासी उपास्य और प्राप्य अपरब्रह्म, अपने कार्यको स्वतंत्ररूपसे कररहाहै। मलिनसत्वगुण आदि वाले तथा अल्पज्ञ आदि गुणोंवाले जीव, अपना २ कार्य करनेमें स्वतंत्रहैं परन्तु वास्तवमें यह सब प्रपंच अद्वैतब्रह्महै। अस्तु, यह बात भली भांति समझलेनी चाहियेकि उपनिषदोंमें जहांपर, ब्रह्म या ईश्वरको व्यापक वतायागयाहै। जैसाकि "ईशावास्यमिदं सर्वं" यह सब जगत् ईश्वरसे व्याप्तहै, वहांपर ईश्वर या ब्रह्म शब्दको सामान्य सच्चिदानन्दका वोधक जाननाचाहिये जोकि वास्तवमें अपनाही स्वरूपहै। और जहां

र ईश्वर या ब्रह्मको सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्मोंके सहित बतायाहै यहांपर ब्रह्म या ईश्वर शब्दसे आदित्यस्थानी उपास्य ब्रह्म .ईश्वरको ग्रहणकरनाचाहिये। तबही आप उपनिषदोंके ब्रह्म या ईश्वरको समझ- सकेंगे। अन्यथा उलझनमें पड़ जाओगे।

सगुण ब्रह्म—

मुंडक उप० मुं० २ खण्ड १ मंत्र ४—

"अग्निर्मूर्धा चक्षुसी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी एष सर्वभूतान्तरात्मा॥"

इस सत्यज्ञानानन्दका अग्नि या द्युलोक मस्तकहै, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्रहैं, सब दिशाएं कानहैं और प्रकट वेदरूपी वाणीहै, तथा वायु प्राणहैं और समस्त जगत् हृदयहै एवं पृथिवी पैरहैं, यही सब प्राणियोंका अन्तर आत्माहै, अर्थात् स्वस्वरूपहै। इसी सगुणब्रह्मके विषयमें यजुर्वेद और ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें ऐसा कहाहै—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्—पुरुष या सच्चिदान्दब्रह्म, सहस्र नाम असंख्य शिरों- वालाहै, एवं सहस्र नाम असंख्य नेत्रोंवालाहै तथा सहस्र नाम असंख्य पांवरोंवालाहै। इस मंत्रके विपरीतहोनेसे ईश्वर या जीव नामकी कोई- ी एक व्यक्ति सगुणब्रह्म नहीं कहीजासकती। क्योंकि अपरब्रह्म अन्त- र्यामी आदित्यस्थानीहै, और जीवात्मा, मनुष्य आदि स्थानीहै। इसीसे नन्दआत्मा ईश्वर, पूरा सगुणब्रह्म नहींहै। इससे यह सिद्ध होगयाकि पादकपाद विशुद्धब्रह्मसच्चिदानन्दही सृष्टिकालमें, सत्व आदि तीनगुणोंके गुणहित या शुद्धसत्वगुणप्रधानमाया उपाधिविशिष्ट और मलिनसत्वगुण- प्राधान अविद्या उपाधि अर्थात् दोनों उपाधियोंके सहित सगुणब्रह्म प्राहाजाताहै। तात्पर्य यहहै जैसाकि एकव्यक्ति एकवृक्षहै, बड़े और छोटे वृक्षोंके समूहका नाम वनहै। इसीप्रकार बड़े और छोटे असंख्य जीवों- का समुदायका नाम सगुणब्रह्महै।

निर्गुण शुद्धसच्चिदानन्द अनन्तब्रह्मको शुद्धभूमिके समान जानना- चाहिये। सगुणब्रह्मको, उस शुद्धभूमिमें, वन या बगीचेके तुल्य जान- ना। ईश्वरान्तर्यामी अपरब्रह्मको, उस वनमें बड़े वृक्ष पीपलके सदृश समझना। विष्णु शिव आदि जितनेभी देव देवीहैं और दानव मानव

आदिहैं, इन्हें एक दूसरेकी अपेक्षा बड़े छोटे अन्य वृक्षोंके जै
समझनाचाहिये । इसप्रकार एकपादसच्चिदानदसगुणब्रह्म, वृ
समष्टिरूप वनके समानहै ।

इसप्रकार वैदिकब्रह्मविचारमें सगुणब्रह्म नामका दूसरा प्र
समाप्त हुआ ।

३––उपास्यब्रह्म

सत्यज्ञानानन्दके चारपादोंमेंसे एकपादका सबसे बड़ा अंश, शुद्धसत्व
प्रधानमायाशक्तिविशिष्ट आदित्यनिवासी अन्तर्यामी अपरब्रह्महोनेसे आदि
से उपास्य या उपासना करनेकेयोग्य ब्रह्महै । उपास्य ब्रह्मका नाम,
स्थान, धर्म और कर्म ये मंगलाचरणमें पढ़िये ।

आदित्यब्रह्मसच्चिदानन्दके परब्रह्म आदि नामोंके अर्थ—

परब्रह्म=हे आदित्य, महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें जब
इच्छा रहितथे तब आपका नाम परब्रह्म या निरपेक्षब्रह्मथा, ऐसे पर
आदित्यदेव, आपको हमारा नमस्कारहै ।

सर्वेश्वर=अन्तर्यामी–हे आदित्यदेव, महाप्रलयकी अन्तिम अवस्
जब आपने शुद्धसात्विकीमाया या इच्छाको स्वीकार किया तब आप
ही नाम सर्वेश्वर अन्तर्यामी होगया । जिससेकि आप शुद्धसात्वि
मायाके प्रेरकहैं और प्रार्थना करनेपर सर्व प्राणियोंकी बुद्धियोंके प्रेर
तथा आप मायाके आधीन नहींहो, अतः हे सर्वेश्वर अन्तर्यामी आ
त्यदेव, आपको हम लोगोंका प्रणामहै ।

कारणब्रह्म=हे आदित्यदेव, आपका कारणब्रह्म नाम इसीलि
पड़ाहै कि आप सृष्टिकी हेतुरूपा इच्छाको हिरण्यगर्भरूप धारणक
लिये प्रेरणा करतेहो और अपने स्वरूपभूतहिरण्यगर्भ सूत्रात्मा या अ
ब्रह्मकेद्वारा आकाश आदि पांच स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति करतेहो एवं
रूपसे सर्वव्यापकहो, इसलिये आप कारणब्रह्महैं । हे आदित्य,
प्राज्ञविशेष या पुरुषविशेष ईश्वर इसलियेहैं कि इस अवस्थामें
विशेषज्ञान आपमें घनीभूत होरहेहैं तथा आप शुद्धसत्वमयी इच्छाव
और सर्वज्ञ आदि गुणोंकेद्वारा सर्वव्यापकहो–यह आपमें अन्य

जीवनामधारीपुरुषोंसे पुरुषविशेषताहै. अतः हे कारणब्रह्म प्राज्ञविशेष या पुरुषविशेष आदित्यदेव, आपको हमलोग, वन्दनाकरतेहैं ।

सूत्रात्मा=हे आदित्यदेव, आपका हिरण्यगर्भ या सुवर्ण जैसा शरीरहै, इसमें सभी विशेषज्ञान प्रकाश पागएहैं या चमक उठेहैं । अहोजी, इसकी तो वेदोंमें महती महिमा वर्णन कीगईहै । जैसाकि मंत्रहै— 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥" हिरण्यगर्भ सबसे पहिले प्रकटहुए वह समस्त प्राणियोंके एकही पतिथे, (और अबभीहैं) उन्होंनेही पृथिवी और द्युलोक अर्थात् त्रिलोकीको धारण कररखाहै, उन्हीं एकदेवताकी होम, हवि आदिकेद्वारा पूजाकरतेहैं । आप इसी शरीर या रूपकेद्वारा सूत्रात्मा कहलातेहो । कारणकि आपके ज्ञानमें समस्तविश्व, धागेमें मणियोंके समान पिरोया हुआहै । आपके इसी रूपका तो अभिमान रखकर श्रीकृष्णजीने गीतामें कहाहैकि—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"—हे अर्जुन, मेरेमें यह सब संसार, धागेमें मणियोंके समान पिरोया-हुआहै । अतः हे सर्वश्रेष्ठ सूत्रात्मा अपरब्रह्म आदित्यदेव, आपको हम श्रद्धा भक्तिकेसाथ नमस्कारकरतेहैं ।

वैश्वानर=हे आदित्यदेव, आप सूक्ष्मतमसे सूक्ष्मतर और सूक्ष्म-तरसे सूक्ष्महोकर आप अब बहुत बड़े रूपमें आगए । आपतो उपनिषदों-के पूर्वोक्त श्रुतिवाक्योंके अनुसार, आदित्य सविता या सूर्यरूपमें प्रकट होगएहैं । अहो, आपका यह कैसा तेजोमय रूपहै— जिसकी समतामें ऐसा आजतक कोई और रूप न तो हुआहीहै और न आगेको होगाही । भगवन्, आपने अपनेलिए यह कैसा चमचमाता हुआ सर्वश्रेष्ठ शरीर बनायाहै और हमारेलिये, रक्त मांस आदि के कुत्सित शरीर, आपमें यह पक्षपात कैसा और क्योंहै । इस प्रश्नका उत्तर आगयाहै । ये हैं हमारे शुभाशुभ कर्मोंके परिणाम स्वरूप निकृष्ट शरीर, अतः आपमें पक्षपात नहींहै । ऐसेतो आपका यह आदित्य या सविता शरीरहै, तोभी आप इसीकेद्वारा पूजितहोतेहैं' इसके विना तो आप इन्द्रिय अगोचर-होनेसे प्रायः अदृश्यही रहतेहैं, भला फिर आपकी कोई पूजा कैसे करने पाएगा । अहोजी, आपही क्यों, हमारी पूजा करनेवाले लोग भी तो

हमारे इन स्थूलशरीरोंकेद्वाराही हमारी पूजा करतेहैं, नही तो हम
पूजा करनेवाले और करानेवाले दोनोंही अदृश्य ही हैं । इसलिए ह
आपके इस आदित्यरूपकोही अपना इष्टदेव मानेंगे और पूजा करें

ऐसेतो आप "य एषोऽन्तरादित्ये"—इस पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसा
आदित्य मंडलके अन्तर्गत स्वर्णस्तम्भ तुल्य हिरण्मय पुरुष योगियों
द्वारा देखेजातेहो और स्वर्ण समान तेजस्वी दाढ़ी मूँछ एवं केशसे यु
हो तथा नखसे लेकर शिर:पर्यन्त सुवर्णके तुल्य भास्वर दिव्यकान्तिमा
हो, तोभी आप सर्वसाधारणकेलिये अदृश्यही हो, अत: आपका सू
रूपही सर्वोत्तमरूपहै । ऐसेतो आपभी सच्चिदानन्दहैं और हम
सच्चिदानन्दहोहैं, तोभी आप शुद्धसत्वमय आदित्यस्थानीहोनेसे स्वा
हैं और मलिनसात्विकी इच्छावाले एवं रक्त मांसके इन पिंडोंमें र
वाले हम आपके सेवकहैं । कहोजी राजाभी तो एक मनुष्यहीहै
उसका द्वारपालभी मनुष्यही तोहै, तोभी राजा राजाहीहै और उ
द्वारपाल आदि प्रजा, प्रजा हीहै. किन्तु वह राजा तो नहींहै । जिस
आप हमारे जाग्रत् अवस्थावाले विश्वनामके सभी नरोंके नेत्र
प्रकाश देरहेहैं, इसीसे आप वैश्वानर कहेजातेहैं । अत: हे वैश्वान
आदित्यदेव, आपको हमारा सविनय नमस्कारहै ।

सर्वज्ञ=हे आदित्यदेव, एक तो आप शुद्धसत्वगुणप्रधान इ
वाले फिर आप विराजमानहुए प्रचंड प्रकाशमय तेजोमंडल आदित
रूपमें, तबफिर आपकी सर्वज्ञताका ठिकानाही क्याहै । इसमें तो
कीड़ीकोभी बैठाया जाए तो वहभी सर्वज्ञा होसकतीहै । तबफिर आ
विषयमें तो कहना ही क्याहै । इसीसे पतंजलीजीने, योगदर्शन समा
पाद सूत्र २५ "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" इसमें कहाहैकि ईश्वरमें स
ज्ञताका बीज निरतिशय या निरपेक्ष होताहै । सातिशय वस्तु वह ह
है, जो किसीकी अपेक्षा छोटीहै । निरतिशय वस्तु वह है जो सबसे ब
है । किसी मनुष्य को, अतीन्द्रिय पदार्थका थोड़ासा ज्ञान हुआ
ऋषिका जो वह ज्ञानहै वह सर्वज्ञताका बीज होगया । अन्य किसी
उससेभी अधिक अतीन्द्रिय वस्तुका ज्ञान हुआ-अब पहिलेका जो ज्ञा
वह सातिशय होगया । तीसरे को उससेभी अधिक ज्ञान हुआ अ

दूसरेका ज्ञान भी सातिशय या सापेक्ष होगया। इसप्रकारके सातिशय ज्ञानकी कहीं सीमा होनी चाहिए। जहां इस ज्ञानकी सीमाहै अर्थात् पूर्ण सर्वज्ञता है वही ईश्वरहै। यह सर्वज्ञताकाबीज जो मनुष्यमें या देवतामें सातिशयहै वह परमात्मामें जाकर निरतिशय या निरपेक्ष होताहै। जिससेकि आपही निरतिशयज्ञानसे सम्पन्नहैं। इसीसे आप सर्वज्ञ कहेजातेहैं, अतः हे सर्वज्ञ आदित्यदेव, आपको हमारा नमस्कारहै।

ॐ=हे आदित्यदेव, आपके इस ॐ नामकी महिमा तो वेदों शास्त्रों स्मृतियों पुराणों इतिहासों तथा मतमतान्तरोंमें प्रसिद्ध हीहै—तबफिर आपके इस ॐ नामकी अधिक प्रसंसा करनी ही क्याहै। जिससेकि आप सबकी रक्षाकरनेवालेहैं—इसीसे आपका सर्वश्रेष्ठ नाम ओं है, अतः हे ओंकाररूप आदित्यदेव, आपको हमारा सनम्र नमस्कारहै।

आदित्य=हे सवितः, आपके इस रूपको खंडन करनेवाला आजतक जन्माही कौनहै और न आगेकेलिए जन्मेगाही—जो आपके इस आदित्यरूपका खंडन करसकेगा। जिससेकि आप किसीसेभी खंडित नहींहैं—इसीसे आप आदित्य इस नामसे कहेजातेहैं। अहोजी, आपका यह आदित्यवार या ऐतवार या संडे दिन समस्त संसार व्यापीहै। केवल भाषाकाही भेदहै अर्थतो एकहीहै। यह तो आपके प्रकट होनेका सबसे प्रथम दिवसहै—इसीसे प्रत्येक ऐतवारको आपके सत्काररार्थ सम्पूर्ण संसारकेप्राणी अवकाश या छुट्टी करते हैं। ईसाई लोग, गिरजाघरोंमें आपकी प्रार्थना करतेहैं। प्रातः सायं दोनों समय पलटनोंमें बिगल बजाकर आपको प्रणाम करते हैं। अतः इस दिन सबकोही अवकाश देना चाहिये। और कई आपके प्रेमी लोग, इस दिन व्रतकरके नमक नहीं खातेहैं, वह एकबार केवल मीठाही भोजनकरतेहैं और कई आपके अनन्यप्रप्रेमीलोग, कई दिनोंतक वर्षाकी झड़ी लगजानेकेकारण, बिना आपके दर्शनकिए भोजन नहीं करतेहैं, आपके प्रकट होनेकी दिशाका पूर्वदिशा या सबसे पहिली दिशा नाम पड़ाहै—इसीसे बहुतसे समझदार लोग, इस दिशाकी ओर पीठकर मलत्याग नहीं करतेहैं—और आपके सम्मुख होकर मूत्रत्याग नहीं करतेहैं—वे इससे आपका अपमान करना अनुभव करतेहैं। प्रातः सायं दोनों संध्याओंके समयमें लोग, आपके

सम्मुख बैठकर आपकी उपासना करतेहैं। इसलिये हे सर्वसंकर्
आदित्यदेव, आपको हमारा सविनय नमस्कार है।

भगवान्—अहोजी, हे आदित्यदेव, आपके इस नामकी महिमा
उपनिषदोंमें बहुतही पाईगईहै। इनमें प्रत्येक ऋषिने अपने पूज्य पु
के लिए, "हे भगव" यह शब्द ही संबोधनके रूपमें उच्चारणकिया
जिससेकि केवल आपही समस्त ईश्वरता धर्म यश श्री ज्ञान औ
विज्ञानवालेहैं—इसीसे हे आदित्यदेव, आप भगवान् हो, अतः आप
हमारा नमस्कारहै।

सविता—हे आदित्यदेव, जिससेकि आप सबकी उत्पत्ति कर
इसीसे आपका नाम सविताहै, अतः हे वेदोंमें प्रसिद्ध सविता नाम
आदित्यदेव, आपको हमारा प्रणामहै।

सूर्य—हे आदित्यदेव, जिससेकि आप, अखिल प्रपंचके निया
हो—इसीसे आपका नाम सूर्यहै, अतः हे सूर्य नामवाले आदित्य
आपको हम बहुधा नमस्कारकरतेहै।

परमदयालु—हे आदित्यदेव, आपसे भिन्न जितनेभी प्राणी दय
वे सबके सब सापेक्ष दयालुहैं—वे कुछ न कुछ मनमें कामना रखक
किसीपर दया करतेहैं, अतः वे सापेक्ष दयालुहैं। परन्तु आपतो कि
दया उधारी न लेकर सबपरही दया करतेहैं, अतः आप निरपेक्ष दय
होनेसे परमदालुहैं। अतः हे परमदयालु आदित्यदेव, आपको हम
प्रणामहै।

न्यायकारी—हे आदित्यदेव, आप सबपरही एकसी दृष्टि रखं
कोई जैसाभी शुभाशुभ कर्म करताहै—उसको वैसाही उस क
अनुरूप सुख या दुःख देकर उस कर्मसे मुक्त करदेतेहो, उसमें आ
कुछभी किसीसे पक्षपात नहींहै। परन्तु भक्त या भले मनुष्यका थो
साभी कियाहुआ पुण्य या भला कर्म-उससे आप प्रसन्न होकर भक्
बहुत बड़ा सुखफल देसकतेहो। अहोजी, आपके यहां कमी किस ब
की है। आपतो पूर्णकाम आत्मारामहो तबफिर आपके कोशमें न्यू
क्यों हो, आप कृपणता क्यों करनेलगे। अहोजी, जब एक साधार
मनुष्यभी अपने सभी कर्मचारियोंमेंसे किसी एक नेकनीतिसे क

करनेवाले व्यक्ति पर प्रसन्नहोकर उसे अपनी जेबसे इनाम देदेताहै, उसे कोईभी समझदार व्यक्ति, पक्षपाती नहीं कहेगा, तबफिर आपतो परमस्वतन्त्रहोनेसे थोड़ेसे कर्मसे जिसको जो चाहो बड़ा सुखफल दे-सकतेहो, इसमें पक्षपात क्या है। आपकी न्यायकारितामें कलंक क्यों लगाया जाए। किसीपर अन्याय करनाहीतो बुराहै। किसीको नीचसे उच्च बनादेना बुरा नहींहै। यदि आपके परमप्रेमी तथा लोकोपकारी सेवकसे अकस्मात् कोई पाप कर्मभी होजाए और वह उस पापकर्मसे भयभीतहोकर पश्चाताप करताहुआ तथा आगेको दुष्टकर्म न करनेकी मनमें प्रतिज्ञा करताहुआ आपसे क्षमा याचना करताहै-तो हे विश्वात्मन्, आप उसे क्षमा प्रदानकरतेहैं। अपने भक्तने अपने उस अशुभकर्मसे जिन लोगोंको हानि पहुंचाईहै, आप उनलोगोंको भी अपनी ओरसे हर्जाना देकर प्रसन्न करसकतेहो। जबकि एक साधारण व्यक्तिभी किसी-को हर्जाना देकर अपने आदमीकी रक्षाकरलेताहै-तब फिर अनन्त-शक्ति संपन्न भगवान् होकर आपकेलिये असम्भवही क्या है। इसप्रकार आपकी परमदयालुता और न्यायकारितामें कुछभी विरोध नहींहै। अतः हे परमदयालु तथा न्यायकारी आदित्यदेव, आपको हमारा शतशः प्रणामहो।

कर्म तथा उपासना

हे आदित्यदेव, मनुष्य अग्निहोत्र आदि कर्मकेद्वारा आपको प्रसन्न करके अपनी कामनाके अनुसार, आपसे धर्म अर्थ काम तथा ज्ञान या इनमेंसे किसी एक फलको प्राप्त करलेताहै। अहोजी, प्रातः सायं दोनों समयोंकी सन्धिमें होनेवाली यह संध्योपासना आपकीही प्रसन्नता संपादनकरनेकेलिये कीजातीहैं। जिसके न करनेसे अन्य किसीभी देवताकी पूजाकरनेपर द्विजातिको स्मृतियोंमें पतित बतायागयाहै। यह संध्या आपकेही सम्मुख बैठकर कीजातीहै, इसमें सबही मंत्र वास्तवमें आपकीही स्तुतिकेलिये दियेगएहैं। अतः हे सर्वसंमान्य आदि-त्यदेव, आपको हमारा श्रद्धापूर्वक नमस्कारहै।

हे आदित्यदेव, गायत्रीमंत्र, सर्ववेदोंमें स्मृतियां और पुराणोंमें भी उच्च कोटिका मंत्र मानागयाहै-यह सर्वश्रेष्ठमंत्र, यज्ञोपवीत धारण

करनेके समय आचार्यकेद्वारा मनुष्यको द्विजाति वनानेकेलिए दिया जाताहै। इस मंत्रके विना मनुष्य द्विजाति कहलानेका अधिकारी नहींहै इस मंत्रके प्रतिपाद्यदेवता आपही हो। आज इस मंत्रको "सूते" इति सविता–जो उत्पत्तिकरे वह सविताहै–ऐसी व्युत्पत्तिको लेकर बहुत संप्रदायीलोगोंने, अपने अपने इष्टदेव पर लगालियाहै–वे इस मंत्रकेद्वारा अपने २ इष्टदेवको सविता मानकर उसे अपना आराध्यदेव मान रहेहैं यह तो अपनी श्रद्धापर निर्भरहै, इस मंत्रको जहांपर चाहो गुरु आदि परभी लगासकतेहैं। परन्तु ऐसा करना वेदके विपरीतहै। क्योंकि यजुर्वेदने तो सविता नाम सूर्यदेवका ही वतायाहै। मंत्रहै—

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

आवरणरूप रात्रिके साथ वर्तताहुआ अर्थात् अंधेरेको नष्ट करताहुआ तथा देवताओं और मनुष्योंको अपने २ कर्ममें लगाताहुआ एवं संपूर्णभुवनोंकों देखताहुआ सवितादेव सुवर्णके समान वर्णवाले रथ बैठकर आताहै। जवकि वैदिक मन्त्रोंसे इसप्रकार सवितादेवकी स्तुति सूर्यके रूममें कीगईहैं-तवफिर गायत्रीमंत्रकेद्वारा सूर्यदेवसे भिन्न किसी अन्यदेवका सविता नामसे ग्रहण करना उचित नहींहै।

मनुस्मृति अध्याम २ श्लोक—

न तिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः।१०३।
अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।१०४।

जो मनुष्य, प्रातःकाल संध्योपासना नहीं करताहै तथा सायं काल संध्या और गायत्रीका जप नहीं करताहै उसे द्विजाति सत्कर्म आदि संपूर्ण कर्मसे, शूद्रके समान, पंक्तिसे वाहर निकालदेनाचाहिये १०३। (परन्तु इसके विपरीत अवतो गायत्रीसंध्या करनेवाले व्यक्तिको ही भक्तमंडलीसे वाहर किया जारहाहै, क्योंकि इन भक्तोंकी संख्या अव अधिकहै। अस्तु) वनमें जाकर अर्थात् एकान्तमें जाकर समाधानहो नदी आदि जलके समीपमें जितेन्द्रियहोकर नित्यकर्म विधिमें स्थितहुआ

सावित्री अर्थात् गायत्रीका जपकरे ॥१०४॥ मनु० के इत्यादि श्लोकोंसे निसन्देह यह सिद्ध होताहै कि गायत्री मन्त्रसे उपास्य सविता या सूर्य-देवही हैं। इसीसे गायत्रीका दूसरा नाम सवितासे संबधहोनेसे सावित्री नाम पड़ाहै। परन्तु आज-दूसरे देवी देवताओंकी उपासना होरहीहै-इस से लोग, दोनों सध्याओंमें प्राय: उन्हींका पूजन करने लगेहैं। इसीसे वैदिक संध्या गायत्री आदि कर्म और जपका करना त्यागदियाहै। न जाने एक महापुरुषभी, इन श्लोकोंके तात्पर्य अर्थको क्यों भूल गए। उन्होंने क्यों न विचार किया कि गायत्रीका सावित्री नाम कैसे होगया। इसका यदि सविता या सूर्यदेवताहै तवही तो इसका सावित्री नाम हुआहै। अहो, वे वहुत वड़ी भूलकरगएहैं। उनका अनन्यभक्तभी उनका अनुयायी होताहुआ अव उनके विरुद्ध कैसे और क्यों जाएगा। अस्तु।

गायत्री मन्त्र—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। पदार्थ-ओं=रक्षा करनेवाला, भू:=सत्तारूप, भुव:=चित्रूप, स्व:=सुखरूप, तत्=वह, सवितुः=उत्पत्तिकरनेवाला, वरेण्यं=चाहनेयोग्य, भर्ग:=पापोंका नाशक तेज, देवस्य=प्रकाशस्वरूप, धीमहि=ध्यानकरतेहैं, धिय:=बुद्धियोंको, य:=जो, न:=हमारी, प्रचोदयात्=प्रेरणाकरे। भावार्थ—हम लोग, उत्पत्तिकरनेवाले, चाहनेयोग्य, स्वयंप्रकाश, रक्षाकरनेवाले, सच्चिदानन्दके उस पापोंके नाशकरनेवाले, तेजका ध्यानकरतेहैं, वह हमारी बुद्धियोंको शुभकर्ममें प्रेरणा करे। हे आदित्यदेव, यह गायत्रीमन्त्र आपकी स्तुतिकेलिए सर्वोत्तम मंत्रहै। इसकी साक्षी भगवान् कृष्णजी गीता अध्याय दशमें "गायत्री छन्दसामहम्" छन्दोंमें गायत्री नामक छन्द मैंहूं ऐसा कहकर देरहेहैं। मनु आदि स्मृतियोंमें, इस गायत्रीमंत्रका वहुत महत्व प्रतिपादन कियागयाहै। अत: हे सवितः आदित्यदेव, इस मंत्रकेद्वारा 'हम' आपका सदाही स्मरण-करतेरहें। "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।" हे सवित:= सूर्यदेव, हमारे समस्त पापोंको दूरकीजिए और जो शुभहै वह हमें प्रदानकीजिए। यह मंत्रभी आपकी प्रार्थनाकेलिए प्रसिद्ध मंत्र-है। अत: इसकेद्वारा हमलोग, आपकी प्रार्थना करतेहैं। इस पुस्तकके

मंगलाचरणमें लिखा हुआ श्वेताश्वतर उप० का "यो ब्रह्माणं" यह मंत्र मुमुक्षुओंको आपकी स्तुति करनेकेलिए अतिश्रेष्ठ मंत्रहै।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।" यह मंत्र कठ० तैतरीय० तथा वृहदा० उप० में भी आयाहै इसका अर्थहैकि ब्रह्मकी भयसे अग्नि तपताहै, सूर्य तपताहै तथा इ वायु और मृत्युभी अपना २ काम करतेहैं। इस मंत्रसे यह संदेह होता कि सूर्यसे भिन्न सूर्यको भय देनेवाला परमात्मा, सूर्यसे बहुत दूर क पर रहता होगा, परन्तु ऐसा नहींहै और इसको भयभी नहींहै। कार कि हमलोगोंके रक्त मांस अस्थियोंसे संचित शरीर, वात कफ औ पित्तसे व्याप्तहुए सविकारहैं। और ये किसी वात आदि दोषके कु होजानेपर निकम्मे होजातेहैं। तबतो इनको चाहे कितनीभी दिखलायी जाए फिरभी ये कुछ काम करनेको तैयार नहीं होते। प हे आदित्यदेव, आपका यह प्रवलप्रचंड तेजोमयकल्याणतमनिर्वि आदित्यशरीर, किसीभी विकारवाला नहींहै, अतः यह आपकी आज्ञा उल्लंघन क्यों करेगा यह तो जैसाभी आप चाहोगे वैसाही काम करे फिर इसको भय क्यों होवेगी। अतः आपका यह आदित्यशरीर, स ही निर्भयहै और आगे रहेगा। यह श्रुतिवाक्य, केवल स्थान स्थानीके भेदका द्योतकहै। हे आदित्यात्मब्रह्मदेव, उपनिषदोंमें स्थलोंपर आपकी प्राणरूपसे उपासना करनेका विधानहै, वहभी है। मनुष्य चाहे उसेही करता रहे। छान्दोग्य० के आठवें अध्या आपकी दहर उपासनाका विधानहै, उसके अनुसार मनुष्य, अपने हृ देशमें ब्रह्मरूप आपका ध्यानकरे वहभी आपकीही उपासना या होगी, क्योंकि उसकेद्वारा प्राप्यब्रह्म आपहीहैं।

छान्दोग्य० अ० ४ खंड ११ श्रुति १ "य एषः आदित्ये पु दृश्यते सोहमस्मि स एवाहमस्मि" जो यह आदित्यमें हिरण्यश्मश्रु पु योगियोंद्वारा देखाजाताहै, वही मैं हुं वही मैं हूं, इस श्रुतिके अनु उसे अपनाही स्वरूप समझना चाहिए। भक्तजी, भय मतक "अहंब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्महूं, ऐसा कहनेसे अपनेमें पाप आजानेकी आश न करो। भगवान् बड़े उदारहैं, वे इस अभेद उपासनासे आपको अ

ब्रह्मलोकमें लेजाएंगे, जबकि भगवान् अपनी वाणीसे तुमें ऐसी अभेद उपासना करनेकेलिए बतारहेहैं—तवतो आप निर्भयहोकर "सोहमस्मि" मैं ब्रह्म हूं, ऐसे रटाकरो। आदित्यात्मदेवकी यह अभेद उपासना बहुतही श्रेष्ठहै।

हे आदित्यात्मब्रह्मदेव, ओंकारकेद्वारा आपकी उपासना करनेका वेदों, शास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों एवं मतमतान्तरोंमें भी बहुत बड़ा महत्व गान कियागयाहै। आप सबके रक्षकहैं–इसीसे आपका नाम ओं है। इस ओं का नाम प्रणव भी है। "प्रकर्षेण नौति स्तौति इति प्रणवः" सबसे बढ़कर स्तुति करनेवालेका नाम प्रणवहै। इसीसे श्रीगीताजीके अ० ७ में कृष्णजीने कहाहै कि "प्रणवः सर्ववेदेषु" समग्र वेदोंमें प्रणव मैं हु। इसप्रकार ओंके महत्वमें श्रीकृष्णजीकी साक्षीहै क्योंकि वरसे बिना बरात किस कामकीहै। यदि वेदोंमें ओं न होता तो वेदभी किस कामके होते। इसीसे तो वेदके प्रत्येक मन्त्रके साथ ओं लगायाजाताहै। वेदादिमें ओंका सबसे बड़ा महत्व अनुभवकरकेही पतंजली महाराजने अपने योगदर्शनमें साधकको, शीघ्रतम समाधिके लाभार्थ ईश्वरभक्ति-केलिए अन्य सभी मंत्रोंको त्यागकरके केवल प्रणवमंत्र जपनेकेलिए सूत्र दियाहै—समाधिपाद सूत्र २७ "तस्य वाचकः प्रणव":—उस ईश्वरका वाचक या नाम प्रणव अर्थात् ओं है। व्यासभाष्यमें लिखाहै कि इस नामके साथ परमात्माका नित्य संबन्धहै अर्थात् सर्ग सर्गान्तरोंमें यही नाम उसका स्थिर रहताहै। सूत्र २८ केद्वारा ईश्वर प्रणिधान कहाहै। सूत्रहै—"तज्जपस्तदर्थभावनम्"—उस ओंका जप और उसके अर्थ ईश्वर-का चिन्तनकरनाचाहिए, इससे शीघ्रतम समाधि प्राप्त होगी। इस-प्रकार योगदर्शनमें ओंका महत्व प्रतिपादन कियागयाहै। उपनिषदोंमें इसकी प्रतीकरूपसेभी उपासना करनेका विधानहै कि ओंको ब्रह्मका प्रतिनिधि मानकर इसमें ब्रह्मभावनाकरके इस ओंकी उपासनाकरे, जैसाकि तैतरीय उप० में "ओमितिब्रह्म" ओं यह ब्रह्महै, ऐसी श्रुतिहै।

या फिर मनुष्य, मांडूक्य उप० के अनुसार ओं अक्षरकी अकार उकार और मकाररूपी तीनमात्राओंके साथ आत्माके विश्व तेजस और प्राज्ञरूपी अध्यात्म तीनपादोंको तथा ब्रह्मके वैश्वानर सूत्रात्मा–

अपरब्रह्म और सर्वेश्वर=अन्तर्यामीरूप अधिदेव तीनपादोंको मिला
ओंकेद्वारा आदित्यात्मब्रह्मदेवरूप आपकी ओंकारब्रह्म मैं हूं ऐसी अ
उपासना करे। आपकी यह उपासनाभी अतिश्रेयस्करीहै।

हे ब्रह्मात्मदेव—आदित्य, कोईभी मनुष्य किसीभी भाषामें
किसीभी मंत्रसे और किसीभी नामकेद्वारा आपकी भक्ति करेगा-
मन चाहा फल मिलजाएगा। परन्तु आपके रूपमें भेद नहीं क
चाहिए। यदि नामोंकी भान्ति आपके रूपमेंभी भेद करेगा-तबतो
कुछभी फल नहीं मिलेगा। क्योंकि जल कहो वाटर कहो और
कहिए एकही तो बातहै। ये अनेकों नाम जलकेही हैं। आप यदि
के साथसाथ उसके रूपकाभी भेद करते जायेंगे तबतो आप लो
प्यास निवृत्त नहीं होवेगी। क्योंकि रूपका भेद करनेपर आप प
कहेजाओगे। इसीप्रकार आदित्यात्माके नामभेदकेद्वारा उसके
भेद नहीं करनाचाहिए। ऐसाकरनेपर आप फलसे वंचित रहजाओ
संप्रदायीलोगोंने इस समय अज्ञानतासे आदित्यात्माब्रह्मकी सम
अनेकोंही रूपों और स्थानोंकी कल्पना करलीहै। इसीलिए मैं
लोगोंको सावधान कररहाहुं, देखना कहीं उनके वशीभूत न होजा

परब्रह्म और अपरब्रह्मके विषयमें प्रमाण—

कठ उप० अ० १ वल्ली ३ मंत्र १५—१६—

एवद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥१५॥

यही ओं अक्षर अपरब्रह्महै और यही ओं अक्षर परब्रह्महै
ओं अक्षरको जानकर जो इच्छाकरताहै—उसे वही प्राप्तहोजा
तात्पर्य यह है कि ओं अक्षरही अपरब्रह्मका नामहै, इसलिए
अपने अधिकारके अनुसार इस ओं अक्षरकेद्वारा अपरब्रह्मको
करसकताहै और परब्रह्मको जानसकताहै। माया सहितका नाम
ब्रह्महै और माया रहितका नाम परब्रह्महै।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालंबनं परम्।
एतदालंबनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥१६॥

इस ओंका आश्रय करना श्रेष्ठहै, यही आश्रय परहै, इसी आलम्वनको जानकर ब्रह्मलोकमें पूज्य होताहै। तात्पर्य यहकि मनुष्यको इस ओंकेद्वारा अपरब्रह्मका आश्रय करना उत्तमहै, और इसी ओंकेद्वारा परब्रह्मका आश्रय करना उत्तमहै। इस ओंकेद्वारा परब्रह्मको जानकर मुक्त होजाताहै और इसी ओंकेद्वारा अपरब्रह्मके ध्यानसे ब्रह्मलोकको प्राप्त करलेताहै।

प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ५—"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।" हे सत्यकाम, यह जो ओंकारहै यह परब्रह्म और अपरब्रह्मरूपहै अर्थात् इन दोनोंका नामहै, इसलिए विद्वान्, इसी ओंकारके आलम्वनद्वारा दोनोंमेंसे किसी एकको ग्रहण–करताहै। इससे आगे श्रुति कहतीहैकि यदि मनुष्य, तीनमात्राओंरूप ओंकारकेद्वारा अपरब्रह्मका ध्यान करताहै–वह सब पापोंसे रहितहुआ सूर्यको प्राप्तहोकर ब्रह्मलोकमें पहुचजाताहै। उसके पीछे उस जीवोंके घनीभूत परसे अर्थात् अपरब्रह्मसे परब्रह्मको साक्षात करताहै, वह परब्रह्म, शान्त अजर अमर और भयसे रहितहै। तात्पर्य यहहैकि ब्रह्मलोकमें, जीवोंके स्थूलशरीर नहीं जाते। अत: वे वहां अदृश्य होकर रहतेहैं, इसीसे ब्रह्मलोक जीवोंका समूहरूपहोनेसे जीवघन कहलाताहै। वहां महाप्रलय आजानेपर उसके स्वामी अपरब्रह्मसे–जोकि समस्त प्राणधारियोंकी अपेक्षा उपास्य और प्राप्यहोनेसे परब्रह्महै–उससे ज्ञान प्राप्तकरके सबके सब, इच्छारहित शुद्ध स्वस्वरूप सामान्य सच्चिदानन्द निरपेक्ष निर्गुण परब्रह्मको प्राप्तहोजातेहैं। इसीको उपनिषदोंमें, क्रममुक्ति कहतेहैं। इसप्रकार उपनिषदोंमें सत्यज्ञानानन्दस्वरूपकी अपरब्रह्म और परब्रह्मके नामसे उपासना पाईजातीहै, और अपरब्रह्मका ब्रह्मलोकके नामसे लोक पायाजाताहै। ऐसेतो परब्रह्मकीभी अमात्र ओंकारकेद्वारा उपासना करनी कठ प्रश्न और मांडूक्य आदि उपनिषदोंमें पाईजातीहै, तोभी वह उपासना केवल मुमुक्षु मनुष्योंके लिएहीहै। अपरब्रह्मकी उपासना तो धर्म अर्थ काम और ज्ञानकेद्वारा मोक्षकी देनेवालीहोनेसे सर्वसाधारणकेलिएही इसका उपयोगहै।

अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुषकेद्वारा रचित न होनेसे वेदहै सनातनहै, अतः इसके और इसके अनुसारी धर्मग्रथोंके माननेवाले मनुष्य सनातनधर्मी कहलासकताहै। सनातनधर्मी मनुष्यही आर्य हो-सकताहै। सिंधुनदके निवासीहोनेकेकारण कुछ दिनोंसे हमारा नाम हिन्दूभी पड़गयाहै। इससिए सनातनधर्मी आर्यहिन्दूलोगोंको, मन्त्रवेद तथा मंत्रब्राह्मणात्मकवेदोंके अनुसार, आदित्यब्रह्मकाही प्रातः सायं दोनों संध्याओंमें संध्या तथा गायत्री आदि मन्त्रोंकेद्वारा जप और ध्यान करनाचाहिए। कारणकि सृष्टिकालमें, शुद्धसत्वगुणप्रधानमायासहित आदित्यनिवासी सच्चिदानन्दही अपरब्रह्महोनेसे आदित्यरूपसे उपास्य या उपासनाकरनेकेयोग्यब्रह्महै। जिससेकि ऊपरवाला जाने, इसप्रकार की परम्परासे चली आई हुई यह लोकोक्तिभी सत्यहीहै, इससे आदित्यनिवासी अपरब्रह्मही उपास्यब्रह्महै।

इसप्रकार वैदिकब्रह्मविचारमें उपास्यब्रह्म नामका तीसरा प्रक समाप्तहुआ।

४ प्राप्यब्रह्म

उपास्यब्रह्मही प्राप्यब्रह्म या प्राप्तकरनेकेयोग्यब्रह्महै—

जिस मनुष्यने इसलोक और स्वर्गलोकके भोगोंसे विरक्तहोकर अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि साधनोंसे संपन्नहो ब्रह्मलोकके सुखोंकी कामनासे अपरब्रह्मकी, उपास्यब्रह्म प्रकरणमें कही गई रीतिसे अभेद बुद्धिसे उपासनाकीहै—उसको प्राणान्तके समय ईशा वास्य उप० के इन मन्त्रोंद्वारा सूर्यदेवसे प्रार्थना करनीचाहिए—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसावसौ पुरुषः सोहम
॥१६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥१७॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

हे जगत्पालक सूर्य, आपके इस हिरण्यमय या सुवर्णके समान देदीप्यमान प्रचंड तेजरूपी पात्रसे सत्यात्माका द्वार ढकाहुआहै, उस तेजरूप ढकनेको आप हटालीजिए-ऐसा होनेपर मैं उस आराध्यदेव ब्रह्मात्माके दर्शनकरूंगा ॥१५॥ हे जगत्पोषक आदित्य, हे अकेले चलनेवाले, हे प्रेरक, हे विद्वानोंके लक्ष्यरूप सूर्य, हे प्रजापतिके प्रिय, अपनी किरणोंको एकत्रकरो और प्रचंडतेजको समेटलीजिए, आपके अन्दर जो योगियोंद्वारा दीखनेवाला अत्यन्त कल्याणतमरूप पुरुषहै— उसे मैं देखरहाहूं और देखूंगा; वही पुरुष परमात्मा मैं हूं अर्थात् मैं उसको अभेद बुद्धिसे उपासना करनेवालाहूं, शुद्धसत्वगुणप्रधान होकर उसके अत्यन्त समीपमेंहूं, अतः अब उसमें और मेरेमें कुछ भेद नहींहै ॥१६॥ यह मेरा प्राणवायु व्यापकवायुमें मिल जाए और इससे रहित-हुआ स्थूलशरीर अग्निमें भस्महोजाए, हे ओंकाराभिन्नसच्चिदानन्द आदित्यदेव, हे यज्ञमय भगवान्, आप मुझ भक्तको स्मरकरें और मेरेद्वारा किएगए कर्मोंको स्मरणकरें ॥१७॥ हे सूर्य, जिससेकि आप समस्त पदार्थोंको जाननेवालेहो, अतः हे देव, हमें सर्वश्रेष्ठ उत्तरायण-मार्गसे लेचलो, मैं ब्रह्मलोकमें अपनी उपासनाका शुभफल भोगूंगा, और जो कुछ शेष रहगयेहों—उन कुटिलपापोंको हमारेसे आप दूरकर-दीजिए, हम आपकी नमस्कार वचनसे बहुतही परिचर्या या सेवाकरतेहैं ॥१८॥ छान्दोग्य अ० ४ खंड १५ "अथ चैवास्मिन्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति" इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसे उपासककी मृत्यु होजाने-पर उसका कोई मृतककर्म करे या न करे, उसे तो जो कुछ करना-चाहिएथा वह सब अपने आपही करचुकाहै—उसे अब पुत्र आदिकेद्वारा किएहुए किसी कर्मकी आवश्यकताही क्या है। अतः उसकेलिए यदि कोई पुत्र आदि कर्म करताहै तो उस कर्मसे उसे कुछ लाभ नहींहै। उसकेलिए यदि कुछभी कर्म न कियाजाए तो इससे उसकी कुछ हानि नहींहै। इसलिए उसके मार्गमें कोईभी कुछ रुकावट नहीं करेगा। वह तो सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्त होजाएगा, वहांसे दिन शुक्लपक्ष उत्तरायण-संवत्सर आदित्य चन्द्रमा बिजली और अमानव पुरुषकेद्वारा ब्रह्मलोकमें

पहुंच जायेगा। यही देवमार्ग और ब्रह्ममार्गहै—इस मार्गसे गयाहुआ उपासक इस मनुके संसारमें नहीं आवेगा। यह श्रुतियोंका भावार्थहै तात्पर्य यहहै कि ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ३ "अतिवाहकास्तल्लिंगात्" ॥४॥ इस सूत्रके अनुसार, अर्चि दिन शुक्लपक्ष और उत्तरायण इत्यादि नाम वाले ब्रह्मलोकको लेजानेवाले ये चेतनदेवताही सिद्धहोतेहैं किन्तु दिन पक्ष और उत्तरायण नामके काल या समय नहींहै और चा आदि नामवाले लोकभी नहींहैं, ये तो देवताहैं। इसलिए दिन रा कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष दक्षिणायन और उत्तरायण आदि किसीभी समय जबभी उपासक प्राणोंको त्यागेगा ये देवता उसे ब्रह्मलोकमें लेजावेंगे यदि, दिन आदिके समयमें मरनेसेही कल्याणहै तवतो कसाईभी दिन और उत्तरायणमें मरतेही हैं, वे भी ब्रह्मलोकमें चलेजावेंगे। और भ जनभी रातको कृष्णपक्ष और दक्षिणायनमें प्राण त्यागतेहैं–इससे ब्रह्मलोकमें नहीं जानेचाहिए। इसलिए यहां कालका ग्रहण नहीं कर चाहिए। क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें अ० ४ पाद २ सूत्र २१ "योगिनः प्रति स्मर्यंते स्मार्ते चैते" इसमें कालका खंडन कियाहै। इसमें कहाहै कि गी स्मृतिके अ० ८ श्लोक २३ में "तं कालं" यह काल वचन योगियों विषयमें कहागयाहै। अतः यह श्रुतिमूलक नहींहैं। इसलिए श्रुति विरुद्ध स्मृति प्रमाण नहींहै। इससूत्रके शांकरभाष्यमें यह कहाहै यदि गीताभी इनको अतिवाहक चेतनदेवताही मानतीहै तो श्रुति गीतास्मृतिका कुछभी विरोध नहींहै। इसलिए दिन आदिसे काल समयका ग्रहण नहीं करनाचाहिए। अस्तु। ये चेतनदेवता उपासक सत्कार पूर्वक जहां तहांपर सैर करातेहुए और एक दूसरेके पास पहुंचाते हुए विस्तृत सूर्यमंडल ब्रह्मलोकमें पहुंचादेतेहैं।

छान्दोग्य अ० ८ खंड ६ श्रुति ५ "अथ यत्रैतदस्माच्छरीरा इत्यादि श्रुतियोंसे, जबकि यह उपासक, इस शरीरसे उत्क्रमण करता उसी समय इन सूर्यकी रश्मियों या किरणोंद्वाराही ऊपरको लेजाया जाताहै। वह ओं ऐसा उच्चारण करताहै। जैसे मन क्षण भरमें (कलकत्तामें) पहुंच जाताहै–वह इसीप्रकार सूर्यको प्राप्तहोजाताहै ब्रह्मलोकका सूर्यरूपी द्वार, उपासकोंकेलिए खुलाहै, ये ही इस

होकर ब्रह्मको प्राप्तहोसकतेहैं, अज्ञानी कर्मठोंकेलिए यह सूर्यद्वार निरुद्ध या बन्दहै। हृदयकी एकसौ नाड़ियोंमेंसे एक नाड़ी मस्तकको भेदन-करके निकलतीहै, उसकेद्वारा ब्रह्मलोकको जाताहै, औरोंसे नहीं। यह श्रुतियोंका अर्थहै। अतः समझ बुझकर उपासना करनीचाहिए, इस सूर्यमार्गसे उच्चसेभी उच्च देवी देवताओंके उपासक नहीं जासकेंगे, इस मार्गसे तो केवल आदित्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेवाले लोगही जासकतेहैं। छान्दोग्य० अ० ८ खंड ६ की "अथ या एता"-इत्यादि श्रुति-योंसे हृदयकी ये पिंगला आदि नामवाली नाड़ियां सूर्यसे सम्बन्ध रखतीहैं, अतः इनकेद्वाराही ब्रह्मलोकमें जानाहोताहै। ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद २ सूत्र १९ "निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च"-इससे जब तक शरीरहै तबतक सूर्यकी रश्मियोका इससे सम्बन्धहै। अतः उपासक रातमेंभी शरीर त्यागनेपर सूर्यकी किरणोंकेद्वारा ब्रह्मलोकको लेजाया-जाताहै। "अतश्चायनेपि दक्षिणे"-इस २० वें सूत्रके अनुसार दक्षिणायन-मेंभी प्राणत्यागनेपर वह ब्रह्मलोकमेंही जाताहै।

छान्दोग्य० अ० ८ खंड ३ "अथ ये चास्येह"—इत्यादि श्रुतियोंसे ऐसेतो यह इन जीवित जीवोंको और मृत्युको प्राप्तहुए जिन माता पिता आदि लोगोंको जाग्रत और स्वप्न अवस्थामें इच्छा करनेपरभी नहीं मिलसकता, इन सबको (हृदयाकाशस्थित) ब्रह्मलोकको प्राप्तहो-कर मिलसकताहै। तोभी जैसाकि लोग, गृहमेंही उपस्थित निधिको उसी गृहमें उस निधिके ऊपर भ्रमण करतेहुएभी अज्ञानतासे उसनिधि-को प्राप्त नहीं करसकते— उसीप्रकार ये सभी जीव नित्य प्रति सुषुप्ति अवस्थामें ब्रह्मको प्राप्तहोकरभी पुण्य पापरूपी अनृत साथमें होनेसे ब्रह्मको नहीं जानसकते। इसी अनृत या झूठकेद्वारा ये वहां टिक नहीं सकते, वहांसे लौट आतेहैं। ऐसेतो समाधिकेद्वाराभी अपने हृदयाकाशमें ब्रह्मलोकका अनुभव करसकतेहैं, तोभी वहां चिरकाल तक टिक नहीं सकते। परन्तु सूर्यकेद्वाराही ब्रह्मलोकमें प्रविष्टहोकर स्थिरतापूर्वक निवास करसकतेहैं। क्योंकि वहां इनके साथ, अनेक रोगोंके आगार स्थूलशरीरोंका सम्बन्ध नहींहै। खंड ५ "अथ यद्यज्ञः"-इत्यादि श्रुतियोंसे पूर्णब्रह्मचर्यकेद्वाराही वह ब्रह्मलोक प्राप्तकियाजासकताहै।

ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ सूत्र ९ "अत एव च अनन्याधिपति"—इस्था
सूत्रसे, वहां किसीकी दासता नहीं करनी पड़ेगी । यदि ब्रह्मलोकमें भं निव
पहुंचकर किसीकी दासताहै तो वह ब्रह्मलोकभी सर्वोत्तमलोक क्योंकी
कहाजायेगा, अतः विद्वान् वहां सत्यसंकल्प आदि ऐश्वर्यमें स्वतन्त्रहै
अतः वहां किसीकी दासता नहींहै । वहांपर ब्रह्मकोभी प्रातः सा
प्रणाम नहीं करनापड़ेगा । क्योंकि वहां दिन और रात नहींहैं, वह त
"सकृत प्रभात" या सदैव प्रकाशवाला लोकहै । वहां ब्रह्मकोभी सेवा
अपेक्षा नहींहै, अतः वहां ब्रह्मभी स्वतंत्रहै और ब्रह्मलोक निवासी
स्वतंत्रहैं । कोई किसीका स्वामी या सेवक नहींहै । वहां स्वर्गकी भां
नाचना गाना नहींहै, अतः वहां किसीके वर और अभिशापसेभी ह
और शोक नहींहै ।

ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ४ "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वा
॥१७॥ इस सूत्रमें ऐसा कहाहैकि जगत्की उत्पत्ति आदिके कार्य
छोड़कर अन्य अणिमा आदिरूप ऐश्वर्य मुक्तोंको प्राप्तहोताहै कि
जगत्की उत्पत्ति आदिका कामतो नित्य सिद्ध ईश्वर ही करताहै ॥१
"प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारकमंडलस्थोक्तेः" ॥१८॥ इस सूत्रमें क
कि प्राप्त अधिकारवाला जो सूर्यमंडलमें अवस्थित परमात्मा ईश्वर
उसीके आधीन उपासकोंको स्वराज्य प्राप्ति होतीहै, स्वतंत्र न
अर्थात् वे वाह्यसृष्टिमें हस्तक्षेप नहीं करसकते । छान्दोग्य० अ०
खंड १२ की "मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते"—इन कामनाओंको मनसे
प्राप्तकरताहुआ रमणकरताहै । इस श्रुतिसे, दिव्यमनसेही सुनता देख
बोलताहै अर्थात् वहां एक इन्द्रिय केवल दिव्य मनहीहै—इसीकेद्वा
सब इन्द्रियोंके कार्योंको करलेताहै । जिस किसी सम्बन्धीको मिलन
चाहे तो उसकी मनसे कल्पना करतेसमयही वह मानसिक सम्बन्
उसके पास आकर मिलजाताहै । वहां जिस किसी पदार्थकी कल्प
करताहै—उसे वही प्राप्त होजाताहै । वहां उसकी दृष्टिमें दूसरा
कोई है ही नहींहै, अतः वहां उसे कुछ विक्षेप नहींहै । इसप्रकार
शुद्ध सात्विक दिव्यमनसे, दिव्य भोगोंको भोगताहुआ ब्रह्मलो
निवास करताहै । फिर वहांसे दूसरे मन्वन्तरमें लौटकर इस मर्त्यलो

इस्था किसी अन्य लोकमें आजाताहै। किन्तु वहांसे कोई बल पूर्वक इसे निकाल नहीं देताहै। इसने तो इतने समयकीही इच्छाकरके उपासना की थी, अतः इसका वहांसे लौट आनाही उचितहै।

छान्दोग्य० अ० ८ की अन्तिम "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते"—फिर नहीं लौटताहै, फिर नहीं लौटताहै—इस श्रुतिसे, जिस मनुष्यने, ब्रह्मलोकके सुखोंको भोगकर कैवल्यमुक्तिकी भावनासे ब्रह्मकी दृढतम उपासनाकीहै वह मुक्त होजाताहै। मुं० उप० मुं० १ खंड २ "तपः श्रद्धे" इत्यादि मंत्रसे, वानप्रस्थी और भिक्षामांगकर खानेवाले संन्यासी-लोग, सूर्यकेद्वारा ब्रह्मलोकमें जातेहैं, जहां अविनाशी परमात्माका निवासहै। मुं० ४ "वेदान्त विज्ञान"–इत्यादि मन्त्रसे, वेदान्तके विज्ञानसे परमात्माकी अभेद उपासना करनेवाले एवं शुद्ध अन्तःकरणवाले यति-लोग, सर्वत्यागद्वारा ब्रह्मलोकमें पहुंचकर, परके अन्तकालरूपी महा-प्रलयके आगमनमें आदित्यब्रह्मसे अखंड अद्वैतब्रह्मके ज्ञानको प्राप्तकरके सबके सबही आदित्यब्रह्मके मोक्षके साथही मुक्त होजातेहैं। ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद ३ सूत्र १० "कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्"—कार्यब्रह्मलोककी प्रलय उपस्थितहोनेपर वहांपर, ब्रह्मकेद्वारा ज्ञान प्राप्तकरके, सबके सबही हिरण्यगर्भके सहित परब्रह्म—परमपदरूपी कैवल्यमुक्तिको प्राप्त होजातेहैं। उपनिषदोंमें ऐसी मुक्तिको क्रममुक्ति कहागयाहै। इसलिये ब्रह्मलोकके भोग चाहनेवाले उपासकोंको पीछे कहीगई रीतिसे आदित्यब्रह्मकी अभेद उपासना करनीचाहिए। कारण-कि आदित्यनिवासी अपरब्रह्मही उपास्य तथा प्राप्यब्रह्म या प्राप्तकरने-केयोग्यब्रह्महै। अस्तु।

कुछेक महानुभावोंने अपने २ ग्रन्थोंमें, वैकुंठलोक आदि लोकों-की यह व्यवस्था बनाईहै कि एक ब्रह्मलोकही उपासकोंकी भावनाके अनुसार, उन्हें बैकुंठ आदिके रूपमें भिन्न २ प्रतीत होताहै। परन्तु यह व्यवस्था उपनिषदोंके तथा ब्रह्मसूत्रके आधारपर नहींहै। दूसरी बात यह कि पुराणोंमेंभी ऐसी व्यवस्था नहींहै। क्योंकि वे अपने अपने उपास्य ईश्वरके वैकुंठलोक आदि लोकोंको कल्पित न मानकर उन्हें वास्तविक बनारहेहैं। इसलिये उपनिषदोंके तथा ब्रह्मसूत्रके अनुसार

अपरब्रह्मका ब्रह्मलोकही विशेषलोकहै तथा वही उपास्य और प्राप्य ब्रह्महै ।

पूर्वोक्तरीतिसे वैदिकब्रह्मविचारमें प्राप्यब्रह्म नामवाला चौथा प्रकरण समाप्तहुआ ।

५–प्राज्ञात्मा ईश्वर=अन्तर्यामी

सब जीवोंका अपनास्वरूप ईश्वरहै और अन्तर्यामीहै—

सुषुप्तिकी मध्य अवस्थाका नाम तुरीय अवस्थाहै । उसं अभिमानी या स्थानवाले सच्चिदानन्दका नाम इच्छारहितहोनेसे शु आत्माहै । सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थाका नाम कारणशरं या आनन्दमयकोशहै । यह अति सूक्ष्म अस्मि=हूं इसप्रकारकी एक वृत्ति है । ऐसी वृत्ति उत्पन्न होजानेसे उसी शुद्ध आत्माका नाम अब प्र होगयाहै । यही प्राज्ञात्मा उस सूक्ष्मवृत्तिको बुद्धिरूप धारणकरनें लिए फिर उस बुद्धिको शुभ या अशुभ कर्म करनेकेलिए प्रेरताहै । प्रकार प्राज्ञात्मा प्रेरकहोनेसे ईश्वरहै और अन्दर प्रेरणा करनेसे इ काही नाम अन्तर्यामीहै । बुद्धि या विज्ञानमय प्रेर्य या जीवहै । वृह अ० ३ ब्राह्मण ७ श्रुति ३—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं वृ न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृ याज्ञवल्क्यजी कहतेहैं कि हे उद्दालक, जो पृथिवीमें स्थितहै, पृथि अन्दरहै, जिसे पृथ्वी नहीं जानतीहै, जिसका पृथ्वी शरीरहै, जो पृ के अन्दर रहताहुआ उसे प्रेरताहै, यह तेरा अविनाशी आत्मा (स्वस्व अन्तर्यामीहै या अन्दरमेंप्रेरणाकरनेवालाहै । इसके आगेकी श्रुति जल अग्नि अन्तरिक्ष वायु दिवि आदित्य चन्द्रमा तारे आकाश और तेजके विषयमेंभी ऐसांही कहाहै । यह देवताओंमें अन्तर्यामी क गयाहै । इसके आगे अधिभूतमें अन्तर्यामीहै, जोकि सर्वभूतोंमें स्थित इसके आगे अध्यात्ममें अन्तर्यामी कहाहै—जोकि प्राण वाणी चक्षु मन त्वचा विज्ञान और रेतमें स्थितहुआ प्रेरणाकरताहै, ये उसे जानसकते, यह इन सबके अन्दरमें रहकर प्रेरणाकरताहै– यह अविनाशी आत्मा (अपना आप) अन्तर्यामीहै । तात्पर्य यहहै कि स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा, केवल तेरेही जड़शरीरके अन्दर रह

इन मन वाणी आदिकोंका अन्तर्यामी नहींहै, यहतो व्यापकहै—इससे यह सच्चिदानन्द सभी जड़जगतका अन्तर्यामीहै या अन्दरमेंप्रेरकहै। अब इसके आगेके पाठको लीजिए। अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मन्ता नान्योऽतोस्ति विज्ञातां एव त आत्मा अन्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्तम्। ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम"—यह सत्यज्ञानानन्द अन्तर्यामी आत्मा, पृथिवीसे आदि लेकर और रेत पर्यन्त किसीभी जड़ वस्तुसे न दीखनेवाला होताहुआभी सबका द्रष्टाहै या देखनेवालाहै, न सुननेमें आनेवाला होताहुआ भी श्रोताहै या सुननेवालाहै, मननमें न आनेवाला होताहुआभी मन्ताहै या मननकरनेवालाहै, जाननेमें न आनेवाला होताहुआभी विज्ञाताहै या जाननेवालाहै, इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहींहै, इससे भिन्न अन्य कोई श्रोता नहींहै, इससे भिन्न अन्य कोई मन्ता नहींहै, इससे भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नहींहै, यह तेरा अविनाशी आत्मा अन्तर्यामीहै, इससे भिन्न और सब विनाशीहै। इतना सुनकर आरुणिपुत्र उद्दालक, प्रश्न करनेसे उपरामहोगया। यह श्रुतिका अर्थहै।

इसप्रकार वेदरूपी बड़ी सरकारकी इस आज्ञासे तो प्रत्येक शरीरमें देखनेवाला जाननेवाला और अन्तर्यामी एकही आत्माहै। दूसरा कोई देखनेवाला सुननेवाला मननकरनेवाला जाननेवाला और अन्तर्यामी नहींहै। इससे चाहे तो आप अपने आपकोही इस शरीरमें देखने और सुननेवाला आदि मानलो या फिर अपनेसे भिन्न किसी दूसरेही ईश्वरको इस शरीरमें देखने और सुननेवाला आदि मानलीजिए। द्रष्टा और अन्तर्यामी तो इस शरीरमें एकही रहसकेगा। उपरोक्त बड़ी सरकारकी आज्ञाके विपरीत और अपने अपने अनुभवके विपरीत दूसरा अन्य कोई द्रष्टा और अन्तर्यामी नहीं रहसकेगा। अस्तु।

इसीप्रकार मांडूक्य की "एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी"—यही सबका ईश्वरहै, यही सबको जाननेवालाहै और यही अन्तर्यामीहै, इत्यादि श्रुतिके अनुसार, प्राज्ञात्माही सर्वेश्वर आदिहै, अर्थात् यह समष्टिरूपसे या अपने सभी प्राज्ञोंकेरूपसे सर्वेश्वर सर्वज्ञ और सबका अन्तर्यामीहै।

श्रीगीता अ० १८ श्लोक ६१—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥

हे अर्जुन, प्राज्ञात्मा=ईश्वर, अपने संपूर्ण प्राज्ञोंकेरूपद्वारा स
प्राणियोंके हृदय स्थानमें, विज्ञानमय या बुद्धिरूपी सर्वभूतोंको जो
शरीररूपी यंत्रमें आरूढहैं उन्हें मायासे भ्रमाताहुआ स्थितहै। इस श्लो
का वास्तविक अर्थ यही है। कारणकि जीवोंका उपास्य और प्रा
अन्तर्यामी ब्रह्म, प्रत्येक देहमें स्वरूपसे स्थित नहींहै। क्योंकि "नान्
स्तोस्ति द्रष्टा"—इस श्रुतिसे और अपने अनुभवसे, प्रत्येक शरीरकेप्रा
एकही अन्तर्यामी सिद्धहोताहै। अतः प्राज्ञात्माही ईश्वरहै, और अन्
र्यामीहै। इसलिए प्रत्येक जीवात्मा अपनी बुद्धिको शुभकी ओर
अशुभकी ओर प्रेरणाकरके भला बुरा साधु असाधु आस्तिक या नास्ति
जो कुछ भी बनना चाहे बनसकताहै। क्योंकि यह ऊपरकहीगई रीति
कर्मकरनेमें स्वतन्त्रहै।

मुं० उप० मुं० ३ मन्त्र १—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति ॥

एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो प
एकही शरीररूपी वृक्षका आश्रयलेकर रहतेहैं, उन दोनोंमें एक
वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वादलेकर खाताहै, और दूसरा न खाता
केवल देखताहै। इस मन्त्रके अनुसार, प्रत्येक शरीरमें दो पक्षी रहते
ब्रह्मसूत्र अ० १ पाद २ "विशेषणाच्च" ॥१२॥ इस सूत्रके शांकरभाष्
अनुसार उन दोनोंमें बुद्धिविशिष्ट चैतन्य विज्ञानात्मा कहलाता
और दूसरा निरुपाधि चैतन्य परमात्माहै। इनमें कर्ता भोक्ता विज्ञा
त्मारूपी जीवही शुभाशुभ कर्मोंको करके उनके सुख और दुःख
फलोंका भोक्ताहै। दूसरा निरुपाधि चैतन्य परमात्मा, किसीभी कर्म
कर्ता तथा भोक्ता न होताहुआ केवल द्रष्टाहै। वास्तवमें, विज्ञानात्म
रूपी जीवभी बुद्धिके लीनहोजानेपर, सुषुप्ति अवस्थामें, उस ब्र
परमात्मासे भिन्न नहींहै। क्योंकि बुद्धिरूप उपाधिके बिना विज्ञाना

नामी जीवभी कर्ता भोक्ता न होकर केवल अद्वैत द्रष्टा ब्रह्महै। भाष्य-में, पैंगीरहस्य ब्राह्मणके अनुसार, उक्त मन्त्रकी दूसरी व्यवस्था इसप्रकार कीगईहै कि उन दोनोंमें बुद्धिरूपी पक्षी तो कर्ता और भोक्ताहै। दूसरा क्षेत्रज्ञ या चैतन्यात्मा कर्ता और भोक्ता न होताहुआ केवल द्रष्टाहै। अस्तु। मेरे विचारमें, पहली व्यवस्थाकी अपेक्षा दूसरी रीति अच्छी प्रतीत होतीहै, कारणकि "धियो यो नः प्रचोदयात्"—वह हमारी बुद्धियों-को शुभकी ओर प्रेरणाकरे, "स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु"— वह हमें अच्छी वुद्धिके युक्तकरे, 'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" वह मेरा मन शुभ संकल्प करनेवालाहो, ऐसी प्रार्थनाएं केवल बुद्धि मनके प्रेरणार्थ की-जातीहैं, चैतन्यकेलिये नहीं। इसलिए परिणामी स्वभाववाली बुद्धिही कर्ता भोक्ताहै। अपरिणामी और निष्क्रियहोनेसे चैतन्यात्मा कर्ता भोक्ता न होकर केवल द्रष्टाहै।

पूर्वपक्ष—कुछलोग, इस मंत्रमें जीवका और उपास्य ईश्वरका ग्रहणकरके इसका यह अर्थ करतेहैं कि प्रत्येक शरीरमें उन दोनोंमें जीव तो भोक्ताहै तथा उपास्य ईश्वर न भोक्ताहुआ केवल देखताहीहै।

सिद्धांत या उत्तरपक्ष—यदि यह मानलियाजाए कि जीवके समान फलप्रदाता उपास्य ईश्वरभी प्रत्येक शरीरमें निवास करताहै, तवतो जितने शरीररूपी वृक्षहैं उतने जीवतो हैं ही किन्तु ईश्वर भी उतनेही अर्थात् असंख्यही मानने पड़ेंगे। परन्तु ऐसा माननेकेलिये कोई तैयार नहींहै। इसलिये जोभी लोग, शुद्धसत्वविशिष्ट उपास्य और प्राप्यब्रह्म ईश्वरको स्वरूपसे व्यापक वतानेवाले और सुननेवालेहैं वे वक्ता और श्रोता दोनोंही अज्ञानी अन्धश्रद्धालु और ईश्वरसे विमुख तथा उसकी भक्तिके विरोधि माननेकेयोग्यहैं। क्योंकि वह आपके मल-में मूत्रमें और जूता आदि अपवित्र स्थानोंमें निवास क्यों करेगा। तुमें लज्जा नहीं आतीहै और नहीं आवेगी अपने परमश्रद्धेय परमपूज्य पुरुषो-त्तम स्वामीको अपने मल मूत्र और जूता आदि अशुभ स्थानोंमें बैठाते-हुए। इसलिए केवल अन्धपरंपरासे श्रवणकीहुई और अपने अनुभवसे शून्य बातोंको ग्रहण नहीं करनाचाहिए। कुछ काम तो अपनी बुद्धिसेभी लेनाचाहिए। अतः मायापति आदित्यात्मा ब्रह्म ईश्वर, अपने स्वरूपसे

व्यापक नहींहैं, वह ज्ञानकेद्वाराही व्यापकहै या उसका ज्ञान व्यापकहै
वह ज्ञानमें स्वतन्त्रहै, वह चाहे अपने ज्ञानको मल मूत्र आदिमें लेजा
या पवित्र स्थानोंमें लेजाए, क्योंकि वह स्वतन्त्रहै। हमलोगभी अ
वृत्तिज्ञानको कान और नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा या केवल मनद्वारा
स्थानमें बैठेहुए बहुत दूरतक एवं शुभ या अशुभस्थानमें लेजायाकरते
क्योंकि हमलोगभी अपने अपने ज्ञानके ईश्वरहैं या प्रेरकहैं। इस
आदित्यब्रह्म ईश्वरका, ज्ञानही व्यापकहै वह ज्ञानी या ज्ञानवाला
रूपसे व्यापक नहींहै। इससे सिद्ध होगयाकि उक्त मन्त्रमें स्वामी
सेवकरूप आत्मा और परमात्माका ग्रहण नहींहै। विज्ञानात्मा
तुरीय शुद्ध आत्माकाही ग्रहण करना निर्दोषहोनेसे योग्यहै। और
लोग, फल प्रदाता उपास्य ईश्वरकोही अन्तर्यामी या सबके अ
प्रेरणाकरनेवाला मानरहेहैं वे लोगभी अज्ञानी और अन्धश्रद्धालु
दयाके पात्रहैं, अतः वे क्षम्य या क्षमाकरनेकेयोग्यहैं। क्योंकि जीव,
करनेमें स्वतन्त्रहै। यदि ऐसा नहींहै तो फिर जबकि कोई गोघात
कसाई गोहत्यारूपी एक नया पापकर्म करताहै, क्या तुम मानलो
वह हिंसाकर्म, जिसे तुम अन्तर्यामी कहरहेहो वह कसाई के
प्रेरणाकरके करवारहाहै। क्या तुम मानलोगे कि हमारा मान
अन्तर्यामी व्याधके अन्दर प्रेरणाकरके उससे एक नवीन हिंसा कर्म
रहाहै। क्या तुम मानलोगे कि हमारा सर्वज्ञ अन्तर्यामी किसीके
प्रेरणाकरके उससे चोरी या भयंकर डाका डलवारहाहै। क्या
मानलोगेकि हमारा आराध्य परमात्मा अन्तर्यामी, द्यूत, शराब
दंभ मांसभक्षण और अपनी स्त्रीके होतेहुए वेश्यागमन, इत्यादि
कर्म, जोकि उस अन्तर्यामी परमात्मा ईश्वरने अपने बनाएहुए वे
निषेध किएहैं, फिर उन्हीं पापकर्मोंको वही हमारा स्वामी जी
अन्दरमें प्रेरणाकरके उनसे करवारहाहै। क्या तुम मानलोगेकि ह
उपास्य ईश्वर अन्तर्यामीने, यवनके अन्दरप्रेरणाकरके, काशीमें
अयोध्यामें राम, मथुरामें कृष्ण, और कैथलमें हनुमानजी इत्या
मन्दिरोंको छिन्न भिन करवाकर, अपने अनन्य प्रेमियोंको कष्ट पहुं
केलिए उनके स्थानमें मसजिदें बनवाई थीं। शोकहै तुमलोगोंकी

श्रद्धायुक्त अनुभववसे शून्य ऐसी बुद्धि पर—इसीलिए तुमलोग दयाके पात्रहो। अस्तु। गीता अ० १५ श्लोक ८ "शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः" हे अर्जुन, जव यह ईश्वर, दूसरे किसी शरीरको प्राप्तकरताहै, और इस शरीरसे उत्क्रमण यानि इसे त्यागताहै। इस श्लोकमें जीवात्मा का नामभी ईश्वरहै।

ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनकोभी लेलीजिए। श्रीशंकराचार्यजीने, ब्रह्मसूत्र अ० १ पाद २ सूत्र २० "शारीरश्चोभयेपि हि भेदेनैनमधीयते"—इससूत्रके अपने भाष्यद्वारा यह घोषित कियाहै कि "यो विज्ञाने तिष्ठन्" (वृ० ३। ७। २२) इति काण्वाः। "य आत्मनि तिष्ठन्" इति माध्यन्दिनाः इन दोनों शाखाओंमें, विज्ञान शब्द और आत्मनि शब्द जीवका वाचकहै। और वह जीव विज्ञानमयहै, उस जीवसे अन्तर्यामी भिन्नहै। अविद्या कल्पित कार्यरूप सूक्ष्मशरीर उपाधिकेद्वारा और आनन्दमय-रूप कारणउपाधिकेद्वारा, जीव और अन्तर्यामी ईश्वरका भेदहै, परमार्थसे नहींहै। क्योंकि एकही प्रत्यगात्मा या अन्तरात्माहै। दो आत्मा नहींहैं। एकही आत्माके भेदका व्यवहार उपाधिका कियाहुआहै, जैसा-कि घटाकाश और महाकाशका भेदहै, वास्तवमें भेद नहींहै। इस भाष्यका तात्पर्य यहहै कि एकही आत्मा, आनन्दमयरूप कारण उपाधिकेद्वारा प्राज्ञरूपसे अन्तर्यामी—प्रेरकहै। और विज्ञानमयरूप कार्य उपाधिकेद्वारा तैजसरूपसे प्रेर्य या प्रेरणाकियाजाताहै। परन्तु वास्तवमें ये दो आत्मा नहींहैं। इससेभी सिद्ध होगया कि यह प्राज्ञात्मा अपनी बुद्धि-का अपने आपही ईश्वरहै और अन्दरमें प्रेरणाकरनेसे अन्तर्यामीहै।

इसप्रकार वैदिकब्रह्मविचारमें प्राज्ञात्मा ईश्वर = अन्तर्यामी नामवाला पांचवां प्रकरण समाप्त हुआ।

६ आदित्यात्माब्रह्म ईश्वर = अन्तर्यामी

आदित्यशरीरीअपरब्रह्म, ईश्वरहोनेसे अन्तर्यामीहै—

जब हम वैदिक मंत्रोंमेंसे गायत्रीमंत्रद्वारा प्रार्थना करेंगे। "ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"—वह परमात्मा सविता सूर्यदेव, हमारी बुद्धियोंको शुभकी ओर प्रेरणाकरे, तब वह हमारे अन्दरमें प्रेरणा करेगा, इससे वह हमारा अन्तर्यामी हों-

जाएगा। गायत्रीमंत्रका पुरा अर्थ, उपास्य ब्रह्म प्रकरणमें लिखाजाचुका अतः वहां देखलेना। जब हम किसी अन्य वैदिक मंत्रकेद्वारा या स्मृति योंके किसी श्लोककेद्वारा या अन्य किसी ग्रन्थके सूत्र आदिकेद्वारा या अन्य किसी भाषाकेद्वारा अपनी बुद्धिको शुभकी ओर प्रवृत्तकरानेके लिए, आदित्यात्मा ईश्वरसे प्रार्थना करेंगे तब वह हमारा अन्तर्या होजाएगा। या फिर हमने स्वतंत्रहोकर किए जो पुण्य पापरूपी और अशुभ कर्म, उनका सुख और दुःख फल देनेकेलिए वह फल प्रदा आदित्यात्मा ईश्वर हमारा अन्तर्यामी बनजाताहै।

ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनमें, पूर्वपक्षके रूपमें यह शंका कीगईकि ईश्वर, किसी मनुष्यको उच्च किसीको नीच किसीको साधु किसीको चोर किसीको आस्तिक किसीको नास्तिक किसीको स्वरूपवान किसी को कोढ़ी किसीको अल्पायुमें मारदेताहै, किसीको सैंकड़ों वर्ष बाद पर मारताहै, किसीको धनी किसीको निर्धन किसीको विद्वान् किसी को अविद्वान् किसीको राजा किसीको दरिद्री बनादेताहै। अर्थात् भला तथा बुरा आदिके रूपमें जीवोंको बनादेताहै। वह किसी जीवको उच्च या नीच बनानेसे तो विषमता दोषवालाहै। अतः एक दोष ईश्वरमें यहहै। दूसरा दोष ईश्वरमें यहहै कि वह जीवोंको अनेक के रोगोंसे दुखी करताहै और उनकी मृत्युभी करताहै, अतः निर्घृणा या निर्दयताभी है। इसप्रकार विषमता और निर्दयता ये दोष ईश्वरमेंहैं। ऐसी शंका करके, शंका और समाधानकेरूपमें पाद १ सूत्र ३४ "वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति" यह सू इसका अर्थहै कि विषमता और निर्दयता ईश्वरमें नहींहैं। क्योंकि जीवोंके पुण्य पापरूपी कर्मोंकी अपेक्षा रखताहै अर्थात् मनुष्य, पुण्य या पापरूप कर्म करताहै उसके अनुसारही ईश्वर, मनुष्यको कर्मका फल, सुख या दुख देताहै' अतः आदित्यात्मा ब्रह्मईश्वर दोनों ही दोष नहीं हैं।

कौपीतकी उप० अ० ३ श्रुति ८ "एष ह्येवैनं साधु कर्म का तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तमेभ्यो लोकेभ्योनुनुत्सत परमात्मा ही उस जीवसे शुभ कर्म कराताहै—जिस मनुष्यको यह

जाना चाहताहै, और यही ईश्वर, उससे पाप कर्म करादेताहै, जिस-
को इन मनुष्य आदि शरीरोंसे या भू आदि लोकोंसे नीचे गिराना
चाहताहै। यह श्रुतिका अर्थहै। इस श्रुतिकेद्वारा यह शंका उत्पन्न होती-
है कि ईश्वरही सब जीवोंको बड़ा छोटा सुखी दुखी आस्तिक नास्तिक
आदि सभी रूपोंमें इनको प्रेरणाकरनेवालाहै, अतः भला या बुरा
बनाना आदि जो कुछभीहै सब ईश्वरकेही आधीनहै, मनुष्योंके कुछभी
आधीन नहींहै। परन्तु इस श्रुतिका ऐसा अर्थ नहींहै, जैसा इसका अर्थ,
लोग समझरहेहैं। इस श्रुतिका तात्पर्य अर्थ यह हैकि ईश्वर, भलाई
करनेवाले मनुष्यसे उसकी सहायताके रूपमें उससे कोई ऐसा कर्म
कराताहै जिससे वह औरभी उच्चताको प्राप्त होजाताहै। और जो
मनुष्य, रावणके समान अति अभिमानी होकर बड़े बड़े अनर्थ करने
लगजाताहै–तब उससे कोई ऐसा नीचकर्म कराताहै जिससे उसको नीचा
देखना पड़ताहै तथा उसका अहंकार निवृत्त होजाताहै। यदि इस
प्रकारकी श्रुतियों तथा अन्य वाक्योंका ऐसा अर्थ कियाजाएगा कि सब-
कुछ ईश्वरही करवाताहै–तब तो मनुष्योंकी कल्याणकेलिए ईश्वरके-
द्वारा बनायागया जो विधि निषेधरूप वेद, वह सबका सबही व्यर्थ हो-
जाताहै। क्योंकि मनुष्योंके तो बसकी कोई बातही नहीं रहजातीहै,
यदि इनसे सबकुछ ईश्वरही कराताहै। अतः मनुष्य, बास्तवमेंही कर्म
करनेमें स्वतन्त्रहै। इसप्रकार एकतो पुण्य पापरूपी कर्म करनेमें स्वतंत्र
होनेसे हम सभीलोग, अपने आप ईश्वर या प्रेरकहोनेसे अन्तर्यामीहैं,
और दूसरा वह–जोकि प्रार्थना करनेपर और हमारे शुभाशुभ कर्मोंका
सुख दुखरूप फल देनेमें आदित्यात्माब्रह्म ईश्वर अन्तर्यामीहै।

इसप्रकार वैदिकब्रह्मविचारमें आदित्यात्माब्रह्म=ईश्वर अन्तर्यामी
नामका छठा प्रकरण समाप्त हुआ।

७ अंश–अंशी ब्रह्म

विशुद्धब्रह्मसच्चिदानन्दका अंशहोनेसे जीवभी सच्चिदानन्दस्वरूपही है–
चतुष्पाद सत्यज्ञानानन्दका एकपाद सच्चिदानन्द, अंशोंके रूपमें
हुआहै। महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें सच्चिदानन्दका, स्वगत आदि
तीनों भेदोंसे रहितहोनेसे अनन्तरूप था, अतः वह चतुष्पादविशुद्धब्रह्म

था। महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थामें जब उसके एकपादमें इच्छा
गई तब वह तीनपाद विशुद्ध और एकपादसे माया तथा अवि
सहितहोनेसे अंशोंकेरूपमें विभक्त होगया या बटगया। उन अंशोंमें
से और सब प्रकार बड़ा अंश, मायापति आदित्यात्माब्रह्म ईश्वर
और जितनेभी ब्रह्मा विष्णु शिव तथा अन्यान्य देवी देवता एवं
दानव मानव पशु पक्षी कीट और पतङ्ग आदिहैं, ये सब एक दू
अपेक्षासे उस ब्रह्मके बड़े और छोटे अंशहैं। सच्चिदानन्दब्रह्म नि
यवहै, अतः इसके ये सब मुख्य अंश न होकर अंश की भांति अं

अंशी नाम राशि या ढेरकाहै। अंश नाम, पाद भाग
हिस्सेकाहै। जो कुछ गुण आदि वस्तु अंशीमें होतीहै, वही गुण
वस्तु उसके अंशमें होतीहै, यह नियमहै। जैसाकि रूप रंग और
पन नमकके अंशी या ढेरमेंहै, वही सफेदरूप और खारापन
अंश या कणमेंहै। जैसाकि सफेदरूप और मीठापन मिश्रीके अ
राशिमेंहै वही रूप रंग और मीठापन उसके अंश या कणमेंहै।
उष्ण प्रकाश अग्निके अंशीमेंहै वही उष्ण प्रकाश उसकी अ
चिन्गारीमेंहै। जैसाकि खारापन समुंद्रमेंहै वही खारापन उसके
रूपा एक बूंदमेंहै। इसीप्रकार सोना चांदी लोहा पीतल आ
वस्तुओंको लेलीजिए। जो कुछभी अंशीमें होगा वही उसके
अवश्यही होगा। जिससेकि अंशी परब्रह्म, सच्चिदानन्दस्वरूपहै
से उसके अंश ये ईश्वर जीव सबके सब सच्चिदानन्द स्वरूपहैं।

मुं० उप० मुं० २ खण्ड १—"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकात्
लिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजाय
चैवापियन्ति" हे सोम्य, वहयह परब्रह्म सत्यहै, जिसप्रकार प्रज्वलित अ
मेंसे उसीके समानरूपवाली हजारों चिन्गारियां अनेकप्रकारसे
होतीहैं उसीप्रकार अविनाशी परब्रह्मसच्चिदानन्दसे अनेकप्रकार
और अचर पदार्थ उत्पन्नहोतेहैं और अन्तमें उसीमें लीनहोजातेहैं

कठोपनिषद अ० २ वल्ली ५ श्रुति ९—

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

भावार्थ—जैसाकि एकही अग्नि, काष्ठमें प्रविष्टहोकर उसी काष्ठके समानरूपवाली होजातीहै अर्थात् जैसा जैसाभी उस काष्ठका सीधा या टेढ़ा आदि आकार होताहै—वैसाही आकार उसमें अग्निका-भी प्रतीत होनेलगताहै, परन्तु वास्तवमें अग्नि, सीधी और टेढ़ी नहींहै-इसीप्रकार, एकही सर्वभूतोंके अन्दर परब्रह्म सच्चिदानन्द, उसी २ ईश्वरके तथा अन्य जीवोंके समान आकार वाला एवं उन्हीं उन्हींके सात्विक राजसिक या तामसिक स्वभाववाला प्रतीत होनेलगजाताहै, और उनके वाहरभीहै, अर्थात् यह सृष्टि तो उसका एकपादहै और वह तीनपाद विशुद्धसच्चिदानन्द, इस सृष्टिके वाहरहै। अग्निकी समानता-में अब विजलीका दृष्टांतभी वहुत उपयोगीहै। क्योंकि विजलीका प्रकाश, एकरूप होताहुआभी, हरे पीले लाल और नीले आदि वल्लवोंकेद्वारा जैसा उनका रंगहै उसी रंगके समान और जैसा उनका आकारहै उसी उसी आकारके समान और जैसा उनका पच्चीस, पचास या सौ आदि नम्वरहै उस नम्वरकी मन्द और तेजीके समान प्रतीत होनेलगताहै। वास्तवमें विजलीके प्रकाशमें उक्त ये भेद नहींहैं।

उक्त श्रुतिकेद्वाराभी यदि किसीकी बुद्धिमें सच्चिदानन्दका ब्रह्मरूप या व्यापकरूप आरूढ़ नहीं होताहै तो इसकेलिए वह आदित्यात्मा-ब्रह्मकी अभी कुछ समयतक और भक्ति करे—तवही उसकी समझमें सच्चिदानन्दका व्यापकरूप आसकेगा।

कोई कोई भक्त, किन्तु मैं तो उस नाममात्रके भक्तको वास्तवमें भक्त नहीं कहूंगा, जोकि सत्यज्ञानानन्दकी ब्रह्मरूपताको खंडित करता-है। अस्तु। वह यह कहताहै कि परमात्मा तो सत् चित् आनन्द रूपहै-उसीका अंश यह जीवात्मा, सत् और चित् रूप तो है परन्तु यह आनन्दरूप नहींहै। यह जीव आनन्दको, ईश्वरसे उधारपर लेकरके अर्थात् उसकी भक्तिकरके आनन्दको भोगताहै। परन्तु यह, शास्त्र संस्कारशून्य वच्चोंकीसी वातहै। क्योंकि ऐसे अज्ञानीसे पूछनाचाहिये कि जीवकी एकाग्रतावृत्तिरूपी जो आनन्दमयकोशहै जोकि प्रत्येक जीव-की स्वाभाविक अवस्थाहै—यह आनन्दसे भरपूर कैसे नहींहै। अस्तु। इस उक्त पक्षमें इतना भाग तो वहुतही अच्छाहैकि यह जीवात्मा,

ईश्वरकी भक्तिकरके धर्म अर्थ काम और मोक्ष नामके चार पदार्थों
अपने मनोअभिलषित पदार्थको प्राप्त कर आनन्दित होजाताहै। परन्
यह कथन सर्वथाही विपरीतहैकि यह उसका अंश होतेहुएभी आनन्
रूप नहींहै। दूसरी बात यहकि जीवात्मा, उस ब्रह्मलोक या आदित्
निवासी मायापति ईश्वरका अंश नहींहै, जिसका अंश जीवात्माको
भक्तलोग मानरहेहैं। यदि उस मायापति ईश्वरका अंश, इस जीवा
को मानेंगे तबतो यह जीवात्माभी मायापति ईश्वरका अंश हो
सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान आदि ईश्वरके धर्मोंवाला मानना पड़ेगा। प
ऐसा तो ये भक्तलोग, मान नहीं रहेहैं। और ना हीं यह अनुभव
आरहा है। इसलिए यह जीवात्मा, मायापतिका अंश न होकर,
सत्यज्ञानानन्दरूपब्रह्मकाही अंश, पीछे कहीगई रीतिसे सिद्धहो
उसके बड़े अंशरूप शुद्धसत्वमायापति ईश्वरका नहीं। जब
जीवात्मा, ब्रह्मसच्चिदानन्दका अंशहै—इसीसे यहभी उसका अंश
सच्चिदानन्दहीहै, यह केवल सत् और चित् रूप नहींहै। माया
सच्चिदानन्दका नाम ब्रह्महै। मायासहित सच्चिदानन्दका नाम ईश्
और मनरूपी अविद्याके सहित सच्चिदानन्द, जीव कहलाताहै।

तैतरीय ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ८ में श्रुति "सैषा आन
मीमांसा भवति"—वह यह आनन्दकी मीमांसा या विचार कीजा
जो मनुष्य युवा या युवकहै तोभी ऐसा वैसा नहीं किन्तु श्रेस्ठ आ
युक्तहो, अध्यायकः नाम अधीतवेदहो, शासनयुक्त और अत्यन्
बलशालीहो, उसकी यह सब पृथिवी अश्व गज आदि धनसे
अर्थात् वह सबप्रकारके ऐश्वर्यसे संपन्न चक्रवर्ती राजाहो, यह
सुखकी अवधिहै, इससे अधिक मानव सुख नहींहै। इसप्रकार चक्र
राजासे लेकर मनुष्यगंधर्व, देवगन्धर्व, पितर, आजानदेवता, कर्मदे
देवता, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा यानी अपरब्रह्म तक,
पहले देवकी अपेक्षा दूसरे दूसरे देवको शतगुण=सौगुना आनन्द हो
है। उतना उतना ही आनन्द, उस उस देवभावकी कामनासे र
वेदवेत्ताको होता जाताहै। यह श्रुतियोंका संक्षेपमें अर्थहै। यहांत
सांसारिक सुखहै। इससे अधिक संसारमें आनन्द नहींहै। इसके

र्थों न्छा रहित निर्गुण शुद्ध सामान्य सच्चिदानन्द परब्रह्महै जो किसीभी प्रकारकी कल्पनाका विषय नहींहै। इसीसे श्रुतिने अपरब्रह्ममें वृत्ति-जन्य सुखको सीमित कियाहै—अर्थात् समाप्त कियाहै। परन्तु यह विशेष आनन्द, वाहरके किसी स्थानसे नहीं आताहै। यह तो वाह्यपदार्थोंके प्राप्त करनेकी अभिलाषा रजोगुणकी कामनारूप वृत्तिके, अपने इच्छित-वस्तुकी प्राप्तिमें शान्तहोजानेसे सत्वगुणकी वृद्धिसे प्रत्येक जीवके अन्दरमेंही प्रकट होताहै—जोकि वास्तवमें अपनाही स्वरूपहै। इसीलिये इनके आगे की श्रुति कहतीहै—"स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" है जो आनन्द, इस उपासक पुरुषमेंहै और जो आनन्द, उस आदित्य-स्थानी उपास्य ईश्वरमेंहै वह आनन्द दोनोंमें एकहै। यह श्रुतिका अर्थहै। यदि जीवोंमें अपना स्वरूपभूत स्वाभाविक आनन्द न होता तो वेदवेत्ताको ईश्वरके समान आनन्द, श्रुतियोंमें क्यों प्रतिपादन किया-जाता। अतः जीवभी आनन्द स्वरूपहीहै—यही आनन्दकी मीमांसा या विचारहै। अस्तु। उक्त वैदिक श्रुतियोंके आधापर जीवात्माका स्वरूप सच्चिदानन्दही है। और अपने अनुभवसेभी जीवात्माका स्वरूप सच्चि-दानन्दही सिद्धहोताहै। कारणकि प्रत्येक प्राणधारी, अपरब्रह्मसे लेकर चीटी या स्तंभ पर्यन्त, अपनी वृत्तिके एकाग्रहोजानेपर, अपने अन्दरही आनन्दका अनुभव करताहै। चाहे वह वृत्तिकी एकाग्रता किसी अभि-लषित विषयकी प्राप्तिसेहै और चाहे वह वृत्ति सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थामें स्वाभाविकहै। यदि हठधर्मीलोग, श्रुतियोंके अनुसार और अपने अनुभवसेभी सिद्ध हुए जीवात्माके सच्चिदानन्द स्वरूपको नहीं मानेंगे तो मैं उनसे यह पूछरहाहुं इसका वे उत्तर दें। क्या वे कहसकतेहैं, जबकि एक नास्तिक मनुष्य, ईश्वर वेद तथा परलोकको न मानताहुआ किसी आस्तिक मनुष्यके साथ विराट सभामें शास्त्रार्थ करताहुआ विजयको प्राप्तकर अतिहर्षित प्रसन्न और आनन्दित हो-रहाहै, तब वह आनन्द क्या उसको ईश्वरकी ओरसे भेजा जारहाहै। क्या वे कहसकतेहैं—जबकि दुर्योधन कर्ण और शकुनी आदि लोग, युधि-ष्ठरके साथ कपट द्यूतमें विजय लाभ करचुके, तब उन्हें जो अतिसंतोष प्रसन्नता या आनन्द हुआथा, तब वह आनन्द क्या उन अधर्मियोंको

ईश्वरकी ओरसे भेजागयाथा । क्या वे कहसकतेहैं कि एक मदिरापान करनेवाले मनुष्यको मदिरापान करतेही जो मस्ति हर्ष या अति आनन्द आजाताहै जिसके कारण वह "तृणवन्मन्यते जगत्" सब संसारको घास फूंसके समान समझकर उसका अनादर करताहै, वह आनन्द क्या उ... को ईश्वर भेजरहाहै । क्या वे कहसकतेहैं जबकि एक कामी पुरुष अपनी सुन्दरी साध्वी स्त्रीके होतेहुए उसका अनादरकर किसी वेश्या... गमनकरके बहुत प्रसन्न होरहाहै, वह आनन्द क्या उसको ईश्वरने दिया होगा । क्या वे कहसकतेहैं जबकि एक गोघातक निरपराध गौ... हत्या करके उसका रक्त या खून सपरिवारके पीकर खुशी मना ... वह खुशी क्या उसको ईश्वरने दीहै । क्या वे कहसकतेहैं जबकि ... या शिकारी, अपने वाण आदि साधनों द्वारा, निरपराध जीवोंके ... को लेकर अपने उस निशानेकी वड़ाई करताहुआ अतिहर्षित या ... न्दित हुआकरताहै तव वह आनन्द क्या उसको ईश्वरही भेजाकर... क्या वे कहसकतेहैं जिन चोरी झूठ आदि कुकर्मोंको संसारके सभ... मनुष्य, बुरा मानरहेहैं—उन कुकर्मोंके करनेवाले मनुष्योंको जो ... प्राप्त होताहै वह क्या ईश्वरही भेजाकरताहै । यदि इन ऊपरमें ... सबही कुकर्मोंके करनेवाले मनुष्योंको आनन्द ईश्वरही प्रसन्नहोकर दिया करताहै तव फिर ईश्वरने विधिनिषेधात्मक या ऐसा करना ऐसा न करना ऐसी शिक्षा देनेवाले वेदोंको मनुष्योंकेलिए वना... क्यों था । अतः हे प्यारे भक्तजी । ऐसे कुकर्मी लोगोंको, जिन ... दुखरूपीफल उन्हें फिर भोगना पड़ेगा उन्हीं कर्मोंका यह आनन्द... फल उन्हें ईश्वरसे दिया नहीं जारहाहै ।

और लीजिए, वांसुरीकी सुरीली मीठीतान, और वी... झंकार तथा अनेक प्रकारके अन्यान्य अपने अनुकूल वाद्योंको... साथही मनुष्यही क्यों पशुपक्षीभी स्तब्ध और क्रियाहीन होजायाकर... वह आनन्द क्या उन्हें ईश्वरही भेजाकरताहै । तात्पर्य यह कि आ... नास्तिक पशु और पक्षी आदि प्रत्येक जीव, अपने अभिलषित ... स्पर्श रूप रस गन्ध नामके विषयोंको प्राप्तकरके—आनन्दमग्न होज... है, तव वह आनन्द क्या उसे ईश्वरही भेजाकरताहै । जिन विष...

पक्षीवोंको आनन्द आरहा था, फिर उन्हीं विषयोंमें ग्लानिकरके ये जीव नउनका त्यागकरदेतेहैं—क्या वहां भी ईश्वरही अब उनसे आनन्दको छीन या लेयाकरताहै। परन्तु हे भक्तजी, ऐसा मानना अनुभवके सर्वथाही उविपरीत पड़ताहै। क्योंकि जीवोंका ऐसा करना स्वाभाविकहीहैकि पुएक विषयको, उसमें ग्लानिकरके छोड़देना और दूसरे विषयमें गुण बुद्धि-यकरके उसकी प्राप्तिसे आनन्दित होजाना ऐसाही अनुभवमें आरहाहै।

तं भक्तजी। क्या आपने माडूक्योपनिषद्की इस श्रुतिको नहीं पढ़ाहै। श्रुतिहै—"यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः"—जहां सोताहुआ किसी कामनाको नहीं करताहै और नाहीं किसी स्वप्नको देखताहै वह सुषुप्ति अवस्थाहै, सुषुप्ति स्थानवाला विशेषज्ञानघनीभूतहोनेसे जो एकीभूत और घनीभूतहै, आनन्द प्रधानहोनेसे जो आनन्दमय और उस एकाग्र वृत्तिकेद्वारा आनन्दको भोक्ताहै, तथा जो चेतनाका द्वारहै वह प्राज्ञ नामी जीव, आत्माका (विश्व और तैजसकी अपेक्षा) तीसरा पादहै। इस श्रुतिके-द्वारा यह बतायागयाहै कि प्रत्येक जीव, सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थामें आनन्दको भोगताहै। इस आनन्दमयकोशमें सबकेलिए बिना किसी प्रयत्नके आनन्दकी प्राप्ति होतीहै।

भक्तजी। क्या आपने योगदर्शनमें समाधिपादके सूत्र १७ "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः"—इसको पढ़ा या सुना नहींहै। इस सूत्रमें आएहुए आनन्दशब्दका यह अर्थहै कि जब साधक अपनी वृत्तिको इन्द्रियोंमें या इन्द्रियोंके कारणरूपी अहंकारमें लेजाताहै तब वह आनन्दसे भरपूर होजाताहै। लो भक्तजी। ईश्वरका भक्तहै या उसका भक्त नहींहै, कोईभी मनुष्य क्यों न हो जब वह इन्द्रियों या इन्द्रियोंके कारण अहंकारमें अपनी वृत्तिको एकाग्र करेगा तब वह आनन्दसे भर जाएगा। इसप्रकार पीछे कहेगए वेदके मंत्रोंसे तथा अपने अपने अनुभवसेभी जीवका स्वरूप सच्चिदानन्दही सिद्धहोताहै। परन्तु वे लोग, जीवके सच्चिदानन्दस्वरूपको स्वीकार नहीं करसकेंगे। क्यों-कि उनकी सम्प्रदायके अनुसार, जीवको सच्चिदानन्दस्वरूप कहदेना

श्रौर मानलेना अपराध मानाजाताहै। अतः वे भी सम्प्रदायीहोने
नाते इस पक्षको स्वीकार नहीं करसकेंगे। उनकी इच्छा, परन्तु प
पातसे रहित अन्य सभी विचारशीललोग, जीवका सच्चिदानन्दस्व
अनुभव कररहेहैं और आगे अनुभव करेंगे। जिससेकि उक्त वैदिकमं
केद्वारा सभी जीव, विशुद्धब्रह्मसच्चिदानन्दके अंशहैं अतः ये भी सब
सब सच्चिदानन्दस्वरूपहीहैं।

इसप्रकार वैदिकब्रह्मविचारमें अंशांशी ब्रह्म नामवाला सातवां प्रक
समाप्तहै।

८ ज्ञेय ब्रह्म

त्रिपाद विशुद्धसच्चिदान्दही ज्ञेयब्रह्महै।

महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें सच्चिदानन्दका अनन्तरूपहै
वह चतुष्पाद विशुद्धब्रह्म था। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्
दिवि"—इसका समस्त विश्व एकपादहै और इसका तीनपाद अवि
अर्थात् विशुद्धहै। इस यजुर्वेदके पुरुष सूक्तके मंत्रके अनुसार, सृष्टि
में उसका एकपाद ईश्वर और जीवनामोंके अंशोंमें विभक्त होगय
बटगया। और वह तीनपादोंसे विशुद्धब्रह्मसच्चिदानदही निर्गुण
निराकारहोनेसे ज्ञेयब्रह्महै।

आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान का अधिकारी

यह जीवात्मा, वास्तवमें सच्चिदानंदरूप होता हुआ भी
अहंरूपा अविद्या शक्तिकेद्वारा, पुण्य-पापका कर्ता और उनके फल
दुखका भोक्ता बनकर शब्दादि पंचविषयात्मक संसारमें इष्ट प्रा
केलिये और अनिष्टकी निवृत्तिकेलिये कभी उच्च और कभी
योनियोंमें भ्रमण कररहाहै। जब किसी पुण्यकर्मसे निष्कामकर्म क
हैं, तब इसके अन्तः करणका मल नाम दोष दूर होजाताहै। मल
राग-द्वेषकाहै। जब फिर ईश्वरकी नामस्मरण आदि रूप निष्काम
करताहै तब इसके विक्षेपकी निवृत्ति होजातीहै। विक्षेप नाम चि
चंचलताकाहै। जब तीसरा आवरण नामक दोष रहजाताहै। आ
नाम अपने वास्तविकरूपको न जाननेकाहै। यह ज्ञानसे नष्टहोत
विवेक, विराग, शमादि षट्क-संपत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण,

दिध्यासन और समाधि ये आठ साधन ज्ञानके हैं। इनमें भी विवेक आदि ार, श्रवणके साधन हैं, और श्रवण आदि चार ज्ञानके साक्षात् साधन-। १ विवेक=सच्चिदानंदब्रह्म सत्यहै और जगत् मिथ्या या अस्थायी-; इस विचारका नाम विवेकहै। २ विराग=इस लोकके और ब्रह्म-ीक तकके भोगोंमें ग्लानि होजानी, इसका नाम वैराग्यहै। ३ शमादि ट्क संपत्ति (क) शम=भोगे हुए विषयोंमें मनको फिर न जाने देना। ख) दम=इन्द्रियोंको शास्त्रनिषिद्ध विषयोंसे रोकना। (ग) श्रद्धा=प्रसांप्रदायी उपनिषद् वाक्योंमें और तदनुसारी गुरुके वाक्योंमें विश्वास। (घ) समाधान=भविष्यत्में होनेवाले विषयोंमें मनको न जाने देना। (ङ) उपरति=स्वयं प्राप्त हुए विषयोंमें भी उपेक्षा या त्याग बुद्धि करनी। (च) तितिक्षा=शीत उष्ण आदि द्वंद्वों या जोड़ेको विना किसी प्रतिक्रिया किये सहन करना। यह तीसरा साधन शमादि षट्क संपत्ति-है। ४ मुमुक्षा=मोक्षकी इच्छा होनी। ये चार साधन ज्ञानकेहैं। इन-केद्वारा कोई भी मनुष्य, ज्ञानका अधिकारी अर्थात् ज्ञानके साधन श्रवण आदिका अधिकारी या पात्र वनजाताहै। वह मनुष्य, मुं० उप० के इन मंत्रोंके अनुसार कार्य करे। मुं० उप० मुं० १ खण्ड २ मंत्र १२।१३। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥ तस्मै स विद्वानुपस-न्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" ॥१३॥ अर्थ—कर्मसे प्राप्तहोनेवाले लोकोंकी परीक्षाकरके ब्राह्मण वैराग्यको धारणकरे, अकृतः (नित्यात्मा) कृतेन (कर्मसे सिद्ध) नहीं होता, उसके ज्ञानार्थ वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके सम्मुख समिधाएं हाथमें लेकरजावे ॥१२॥ ऐसे समीप आएहुए एवं भलीप्रकार चित्तशांतवाले तथा वशीकृत मनवालेकेप्रति जिसप्रकारसे वह अविनाशी सत्यपुरुषको जानसके उस ब्रह्मविद्याको तत्त्वसे उपदेश-करे ॥१३॥ यह मंत्रोंका अर्थहै। व्याख्या—मंत्रमें ब्राह्मणशब्दभी आ-गयाहै—जोकि जन्मसे या कर्मकेद्वारा आज विवादास्पदहै या झगड़ेका घर वनाहुआहै। क्योंकि कोई इसे जन्मसे और कोई कर्मसे बतारहाहै। परन्तु उपनिषदोंमें तथा स्मृतियोंमें तो ब्राह्मणशब्दका तीन स्थानोंमें

व्यवहार हुआ देखागयाहै। जैसाकि—बृहदा० अ० ३ ब्राह्मण ८ श्रु
१० "य एतदक्षरं गार्गी विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण:"—याज्ञवल्क्य
कहा हे गार्गी, जो मनुष्य, इस अविनाशी आत्माको जानकरके इस दे
ऊपर उठजाताहै अर्थात् इस शरीरमें आत्मबुद्धिका त्यागकरके इ
राग नहीं करताहै वह ब्राह्मणहै। इस श्रुतिमें तो ब्राह्मणशब्द, ब्रह्
ज्ञानीके विषयमें व्यपहृत हुआहै। भगवद्गीता अध्याय २ श्लोक
"यावानर्थ"इसमेंभी ब्राह्मणशब्द ब्रह्मज्ञानीके लिये प्रयुक्त हुआहै। स
तियोंमें जहांपर ब्राह्मणकेलिए अध्ययन अध्यापन आदि छै कर्म बता
हैं वहांपर ब्राह्मणशब्द वेदवेत्ताके विषयमेंहै। परन्तु उक्त मंत्रमें ब्राह्
नाम ब्रह्मजिज्ञासुकाहै। अर्थात् ब्रह्मकोजाननेकी इच्छावालेमनुष्
उचितहै कि वह शुभ कर्मकेद्वारा प्राप्तहोनेवाले इसलोक और
लोकतकके भोगोंकी परीक्षाकरे। परीक्षा यहीहै कि सभी विषय
अंतवालेहोनेसे अनित्यहैं। इसप्रकारकी विचारकरके उनमें ग्लानि
और उनके प्राप्तकरनेकी इच्छाको त्यागदे।

जिससेकि प्रत्येक जीव, यही चाहताहैकि मैं सदाही
ऐसा न हो मैं कभी न रहु. इससे आत्मा सत्‌रूपहै। कारणकि
जीवकी यही अभिलाषाहै कि मैं सदा ज्ञानवान् बना रहुं, ऐसा
कि मैं कभी अंधतममें चलाजाऊं। इसीसे आत्मा चित्‌रूप या
रूपहै। क्योंकि प्रत्येक जीवको यही वांछितहै कि मुझे सदैव
बनारहे और प्रत्येक जीवका आनंद प्राप्त करनाही पुरुषार्थहै—
आत्मा या सबका अपना आप आनंदरूपहै। इसप्रकार प्रत्येक
आत्मा सच्चिदानंद स्वरूप है। इसीसे प्रत्येक जीव अपने सच्चि
रूप आत्माकी ओर जारहाहै। ऐसेतो शोक मोह आदि तथा
उत्पन्न होनेवाले दीनता घृणा आदि दुखरूपभी आत्माकेही विव
क्योंकि सच्चिदानंद आत्मा सर्वरूपहै। तोभी ये सब जीवको अ
नहींहैं। इसीसे ये सब आत्माके वास्तविक रूप नहींहैं। ऐसेतो श
विषयोंमेंभी सत् चित् आनंद रूपता अनुभवमें आरहीहै तोभी
स्थायी नहींहैं, किंतु आगमापायीहैं। इसीसे ब्रह्मजिज्ञासुको
विषयोंसे वैराग्य होनाचाहिए। और इनके प्राप्तिकरनेकी इच्छा

ागदे। यह समझे कि आत्मातो अकृतहै अर्थात् नित्यहोनेसे किसी
र्मका फल नहींहै। तो फिर कर्म करनेसे इसे क्या लाभ होगा।
योंकि कर्मका उपयोग चारही प्रकारकाहै। किसी वस्तुकी उत्पत्ति
रना तथा किसी वस्तुको प्राप्त करना एवं किसी वस्तुको शुद्ध करना
ौर किसी वस्तुको बदल देना, ऐसे चार प्रकारकाही कर्मका फल
ोताहै। परन्तु ब्रह्मात्मा तो नित्यहै, अतः इसकी उत्पत्तिकरनी नहीं
नतीहै। और यह अपनाही स्वरूपहै, इससे इसको प्राप्तकरनाभी
हीं बनेगा, तथा यह वास्तवमें शुद्धहै अतः इसका संस्कार करनाभी
हीं बनेगा, एवं यह निर्विकारहै, अतः इसमें परिवर्तनभी कुछ नहीं
किया जासकेगा। इसलिए इसमें किसी कर्मकी सहायता लेनी नहीं
बनतीहै। इसका तो केवल जाननाही बनताहै। इसलिये जिज्ञासुको
चाहिये कि वह आत्माकी जिज्ञासासे, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप-
जाए। वेद शास्त्रोंके अध्ययन करनेवालेका नाम श्रोत्रियहै। अतः गुरु
श्रोत्रिय होनाचाहिये। ऐसा गुरु न हो जोकि विवेक विराग वेदान्त
और सिद्धांतके स्थानमें, ववेक वराग वदांत और सधांत ऐसे अशुद्ध-
शब्द उच्चारण करनेवालाहै। क्योंकि वह शम आदि ज्ञानके साधनोंसे
सम्पन्नहोकर ज्ञानप्राप्तिकेद्वारा अपनी तो कल्याण करसकताहै। परन्तु
यदि शिष्य तर्कशील और बुद्धिमानहै तो वह उसके प्रश्नोंका उत्तर
देनेमें असमर्थहै। जैसे किसी व्यक्तिने केवल अपनेलियेही भोजन बनाया-
है—वहां फिर आपभी चौकेमें विराजमान होजाएंगे तब तो उसको
लज्जितही होना पड़ेगा, ऐसा क्यों करनाहै। अतः श्रोत्रिय गुरुके पास
जाना चाहिये। गुरुका दूसरा विशेषणहै ब्रह्मनिष्ठ, अतः वह ब्रह्मनिष्ठ
अर्थात् ब्रह्ममें निष्ठा नाम स्थितिवाला होनाचाहिये। यदि गुरु ब्रह्म-
निष्ठ न होकर केवल श्रोत्रियहै तबतो शिष्यको उससे शिष्टाचार प्राप्त
नहीं होसकेगा। क्योंकि उसने तो विद्याको विवेकचूड़ामणि पुस्तकके-

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥

इस श्लोकके अनुसार, भोगोंपरही समाप्त करदियाहै। श्लोकका
अर्थ यहहैकि उच्चस्वरसे शब्दोंकी झड़ी लगादेना तथा शास्त्रोंके

व्याख्यानमें अत्यन्तही कुशलहोना अर्थात् एकही श्लोकका कई दिन
व्याख्यान करतेरहना—ऐसेही विद्वानोंके वीचमें अपनी विद्वत्ता दिख
यानी शास्त्रार्थमें सवको परास्त करदेना, यह सब कुछ भोगकेलिएही
मुक्तिकेलिए नहींहै, अर्थात् मनुष्य यदि ब्रह्मनिष्ठ नहींहै तो यह
भोगोंकेलिएहीहै—इसका मोक्षके साथ कुछभी सम्वन्ध नहींहै।
गुरु ब्रह्मनिष्ठ होनाचाहिये।

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिल भूश्रियम्।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥६६॥

जिस मनुष्यने शत्रुका विनाश नहीं कियाहै और सम्पूर्ण रा
लक्ष्मीको प्राप्त नहीं कियाहै—वह मनुष्य अपनेको मैं राजाहूं
कहनेसे वह राजा नहीं होसकताहै।

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः।
वाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥६५॥

ऐसेही जिन्होंने दृश्यका विलय नहीं किया अर्थात् जिनके
शत्रु मित्र मान अपमान स्तुति निंदा हर्ष और शोक आदि,
रेखाके समान स्थायी होकर रहतेहैं, और आत्माके वास्तविक स्व
अनुभव नहीं कियाहै ऐसे मनुष्योंकी "अहंब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म
वाचकमात्र शब्दोंके कथनसे मुक्ति कैसे होसकतीहै उन शब्दों
केवल कथनमात्रही फलहै अर्थात् ऐसे शब्दोंका मुक्तिरूपी फल
अतः गुरु केवल श्रोत्रियही नहीं किन्तु ब्रह्मनिष्ठभी होनाचाहिए

गीतामें ब्रह्मनिष्ठकोही स्थितप्रज्ञके नामसे पुकारागयाहै।
उसमेंसेभी ब्रह्मनिष्ठके लक्षणोंको अवश्य जान लेनाचाहिये। अ
गीता अध्याय २ श्लोक ५६ "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः" इसके अनुस
मनुष्य, शरीरमेंही उत्पन्न होनेवाले ज्वर आदि अध्यात्म दुःख
वाहरसे आनेवाले सर्प चोर आदिकेद्वारा अधिभूत कष्ट एवं वाह
आनेवाले अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि अधिदैव दुःख इन
प्रकारके दुःखोंके प्राप्तहोनेपर हाय हाय नहीं करताहै और तीनों प्र
सुखोंको प्राप्त करनेकी जिसकी इच्छा नहींहै—अर्थात् जो दुःख
सुखकी प्राप्तिमें समान वुद्धिवालाहै एवं राग भय और क्रोधसे र

वास्तविक मुनिको लोग, स्थितप्रज्ञ या ब्रह्मनिष्ठ कहतेहैं। गीताजी ग्रंथ प्रसिद्धहीहै. अतः इसके श्लोकोंको यहां प्रतीकरूपसे दियागयाहै और दियाजाएगा। ब्रह्मनिष्ठका उक्त यह लक्षण, स्वसंवेद्य यानी अपनेसेही अपने आपको जानना नहींहै, किंतु यह लक्षण परसंवेद्य है। यानी दूसरों करके जाननेके योग्यहै। इसके अनुसार यदि श्लोकमें कहागया ब्रह्मनिष्ठका लक्षण उसमें पायाजाताहै तबतो वह ब्रह्मनिष्ठहै, अन्यथा वह ब्रह्मनिष्ठ नहींहै। अतः शिष्यको उसकी भलीभांति परीक्षा करलेनी चाहिये।

गीता अध्याय १३ श्लोक ७ "अमानित्वम्"—इसके अनुसार, ब्रह्मनिष्ठको मानसे यानी अपनेमें उत्कृष्ट बुद्धिकरना इससे रहित होना-चाहिए। क्योंकि यह मानही वहुत बड़ा संक्रामक रोगहै, इससे पार पाजाना अत्यन्तही कठिन कामहै। इस मानकी प्राप्तिकेलिये कोई मनुष्य तो विद्याको पढ़ताहै। कोई मौन धारणकरताहै, कोई अन्नको त्यागदेताहै। कोई अग्निसे तपताहै। कोई जलधारा करताहै। कोई चान्द्रायणव्रत आदि करताहै। कोई खड़ाही रहताहै। कोई नाचताहै। कोई गाता ही है। कोई व्याख्यानही करताहै। इसप्रकारके अन्य कई साधनोंद्वारा मान प्राप्त करताहै, तथा अन्य कोई व्यक्ति, किसीकी इसप्रकारके साधनोंद्वारा मान प्राप्ति देखकर आपभी वैसे साधन करने-लगताहै। इसप्रकार यह मान वहुत बड़ा संक्रामक रोग यानी छूतकी बीमारीहै। अतः ऐसा मान ब्रह्मनिष्ठमें नहीं होनाचाहिये। दंभ नाम इसका है कि जो वस्तु किसी व्यक्तिमें वास्तवमें नहींहै, परन्तु वह बाहरी ढोंगसे उसे बनाकर दिखाताहै। जैसाकि आज बुद्धिहीनलोग, ऊटपटांग गालियां बकनेवाले व्यक्तिको सिद्धहै ऐसा कहनेलगजातेहैं, परन्तु सिद्धि उसमें सर्वथाही नहीं होतीहै। लोग, केवल अपनीही अन्धश्रद्धासे उसे सिद्धबनादेतेहैं। इसप्रकारका कोई दंभ या ब्रह्मनिष्ठाका दंभ ब्रह्मज्ञानीमें नहीं होनाचाहिए। स्वार्थकेलिए मन वाणी तथा शरीरसे किसीको पीढ़ा न दे ऐसा अहिंसक तथा सहनशील और सरल-स्वभाव होनाचाहिए। अपने ज्ञानोपदेष्टा गुरुका भक्त हो। ऐसा न हो कि वह कहीं ब्रह्मनिष्ठाके अभिमानमें आकर गुरुकोभी सर्वसाधारण

मनुष्योंकी भान्ति समझने लगे या गुरुकोभी मिथ्या बतानेवाला बनजाए। अतः वह ब्रह्मनिष्ठ, गुरुभक्त होनाचाहिये। तथा वह जल मृत्तिका आदिसे शरीरकोभी साफ शुद्ध रखनेवालाहो, और स्थिरता-वालाहो, अर्थात् धैर्यवान होनाचाहिये। और वह मनके निरोधवाला हो। क्योंकि आज देखनेमें और सुननेमेंभी बहुधा आरहाहै कि बड़े बड़े लेखक, बड़े बड़े व्याख्यानदाता और प्रसिद्ध योगी तथा ज्ञानयोगिभी प्रायःसर्व संमान्य होतेहुएभी एकांतमें बैठकर मनकी चंचलतासे दुखी होकर उसकी स्थिरताकेलिये रोया करतेहैं। अतः ब्रह्मनिष्ठको आत्म-विनिग्रही होना आवश्यकहै। यदि ऐसा नहींहै तवतो दृढ़ विश्वास करोकि इसने ईश्वरकी उपासनाकरके मनके विक्षेपकी निवृत्ति नहीं कीहै।

श्लोक ८ "इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्०" इसके अनुसार, ब्रह्मनिष्ठकी इंद्रियोंके शब्द स्पर्श रूप रस और गंध नामके विषयोंमें विरक्ति होनी-चाहिये, किसीभी शब्द आदि विषयके वशीभूत नहीं होनाचाहिये, और उसमें अहंकार होना नहींचाहिए। क्योंकि वर्तमानमें अपनेको ब्रह्मनिष्ठ माननेवाले लोग, किसी व्यक्तिके प्रणाम न करनेपर या विना कुछ भेट चढ़ाए कोई प्रश्न करदेनेपर लाल नेत्र तथा मूर्तिमान क्रोधके रूपमें बन बैठतेहैं। वे समझतेहैं कि "कोऽन्योस्ति सदृशो मया" मेरे समान दूसरा कौनहै—इस राक्षसी ज्ञानकेकारण अपनेको प्रणाम करने वाले व्यक्तिकी सदा प्रतीक्षा कियाकरतेहैं। उनका ऐसा आसुरी ब्रह्म-ज्ञान, उनकी ब्रह्मनिष्ठाका द्योतक या जितलानेवाला नहींहै। इस-लिए उसमें अहंकार होना नहीं चाहिए। और उसको जन्ममें मृत्युमें जरामें तथा व्याधिमें अनेकप्रकारके दुःख और दोष देखते रहना-चाहिए। अर्थात् वह ऐसाही करताहै।

श्लोक ९ "असक्तिरनभिष्वंगः०" इसके अनुसार ब्रह्मनिष्ठका, पुत्र दारा या स्त्री गृह आदि किसीभी वस्तुमें राग या लगाव नहीं होनाचाहिये। क्योंकि कोई २ वेषधारी संन्यासीभी वर्तमानमें अपने कुटुम्बकी चिंतामें मग्नहैं और अपने पुत्र आदि परिवारकेलिए सम्पत्ति बनाचुकेहैं और बनारहेहैं। ब्रह्मनिष्ठ तो दूर रहा वह तो संन्यासीही

नहीं रहाहै—जिसका अपने परिवारमें राग या मोह होगयाहै । अपने-को ब्रह्मनिष्ठ माननेवाले अन्य कई संन्यासी, मठ और मकान बनारहेहैं। परन्तु उनका ऐसा करना सभी धर्मशास्त्रोंके विपरीत कर्महै । क्योंकि सभी धर्मशास्त्रोंमें, कुटीचक बहूदक हंस और परमहंस नामके चारों संन्यासियोंमें केवल "पुत्रान्नजीवी कुटीचक:" पुत्रके अन्न पर निर्वाह करने वाला जो कुटीचक संन्यासीहै–उसीकेलिए अपने ग्रामके बाहर कुटिया बनाकर एकत्रवास करनेका उल्लेखहै, परन्तु अन्य किसीभी संन्यासी-केलिए विना चातुर्मास्यके एकस्थानमें रहनेकी आज्ञा नहींहै । जोकि अपने या अपने शिष्योंकेलिए मठ मकान बनानाहै यह उनपर उपकार करना नहींहै, किन्तु उनका अपकार करनाहै । उनके साथ अन्याय करनाहै । उन मुमुक्षुओंको भोगी बनाकर मोक्षसे दूर करनाहै । समय-के अनुसार यदि ऐसाही मानलियाजाए कि धर्म प्रचारकेलिए मठ मकानोंका होना आवश्यकहै–जिनमें संन्यासी लोग निवासकरें, तोभी यह सब कुछ गृहस्थियोंद्वाराही होनाचाहिये, संन्यासियोंकेद्वारा नहीं । क्योंकि धर्मशास्त्रोंमें संन्यासीको किसीभी मठ और क्षेत्र आदिका प्रबन्धक होना वर्जितहै । दूसरी बात यह है कि उनको न्यायालयोंमें तुच्छसे तुच्छ न्यायाधीशोंकी शरणमें जाना पड़ताहै, जोकि अपने को स्वामी माननेवाले संन्यासियोंकेलिए वह लज्जाका कारण एवं महा-पापका फलहै । वर्तमानमें, उदासी नाथ वैरागी आदि नामवाले सभी संप्रदायोंके विरक्तिका वेषधारण करनेवाले लोग, संन्यास आश्रममेंही मानने पड़ेंगे । क्योंकि मनुस्मृति आदि सभी धर्मशास्त्रोंमें, ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमोंसे भिन्न, न तो कोई उदासीन आदि नामवाला पांचवां आश्रमही लिखागयाहै और न उसके लिए किसी कर्तव्याकर्तव्यकाही वर्णन पाया गयाहै । अतः ये सब लोग, संन्यास आश्रमकेही अन्तर्गतहैं । इससे किसी प्रकारके भीं ब्रह्म-निष्ठ संन्यासीका तथा वानप्रस्थका पुत्र और गृह आदिमें राग नहीं होनाचाहिये । यदि ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थीहै तो उसकेलिए पुत्र आदिकोंका त्याग संभव नहींहै, परन्तु उसका पुत्र आदिमें अन्त:करणसे राग नहीं होनाचाहिए । ब्रह्मनिष्ठको इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें और अनिष्ट

वस्तुमें समचित्तवाला होनाचाहिए। अर्थात् ज्ञेयके आधीन ज्ञान होताहीहै, अतः क्षणभरके लिए हर्ष शोक होना चाहिये।

श्लोक १० "मयि च०" ब्रह्मनिष्ठकी ईश्वरमें दृढ़ अभेद भक्ति और वाहरसे उसमें दास बुद्धि होनीचाहिये। क्योंकि वर्तमानमें, अपनेको ब्रह्मनिष्ठ वतानेवाले मिथ्याभाषी तथा लेखोंद्वारा और भाषणोंद्वारा रुपया बटोरनेवालेलोग, निःस्वार्थ परमदयालु ईश्वरकोभी मिथ्या वताने लगतेहैं, परन्तु यह कृतघ्नताहै, अतः उसे ईश्वरभक्त होनाचाहिये। ब्रह्मनिष्ठको एकांतसेवी होनाचाहिए। तथा जनसंसदि नाम मेलेमें अरुचि होनीचाहिए। क्योंकि वर्तमानमें, गृहस्थीही क्यों, अपनेको ब्रह्मनिष्ठ वतानेवाले संन्यासी लोगोंकाभी मन, मेलेसे विना नहीं लगताहै—इसीसे ये लोग किसी न किसी प्रकारसे मेला वनारहेहैं—इससे दृढ़ विश्वास करलेनाचाहिये कि ऐसे लोगोंने ईश्वरभक्ति नहीं कीहै। इसीसे इनको ब्रह्मनन्दका अनुभव नहीं हुआहै। अतः ये लोग, अपना मन वहलानेको मेला बुलारहेहैं, परन्तु ब्रह्मनिष्ठको मेला एकत्र करनेकेलिये अपने आप कोई साधन नहीं बनानाचाहिये।

श्लोक ११ "अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्०" इसके अनुसार ब्रह्मनिष्ठको निदिध्यासनशील और आत्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न होना चाहिए। ये ज्ञानके साधन कहेगएहैं और जो इनके विपरीत हैं वे अज्ञानके साधनहैं। क्योंकि आजकोई व्यक्ति, जिस श्लोक या मंत्रको बड़े परिश्रमके साथ रट रहाहै वही श्लोक या कोई मंत्र आदि कुछभी क्यों न हो, कुछ दिनोंकेवाद उसके कंठस्थ होजाताहै, फिर वह उसके मुखसे स्वाभाविकही निकलने लगताहै। उसे कुछभी परिश्रम नहीं करना पड़ताहै, यह दृष्टांत प्रत्येक कामकेलिए समझना चाहिए। इसीप्रकार जिन अमानित्व या शम आदि साधनोंको साधक या जिज्ञासु आज, बड़े यत्नसे कष्ट उठाकर कररहाहै वे ही शम.दम आदि साधन कुछ दिनोंके अनन्तर उसीके लक्षण वनजातेहैं और वही साधक उनसे सिद्ध या ब्रह्मनिष्ठ कहाजाताहै। अतः ये सव साधन, जिज्ञासुको ब्रह्मनिष्ठ होनेकेलिए अवश्य करनेचाहिए। क्योंकि यह कोई अमरीकाका इंजनीयर तो नहींहै, जोकि भारतमें विजली फिटकरनेकेलिए बुलाया

जाएगा। यह तो यहांकाही जिज्ञासुहै, जोकि शम आदि साधनोंको करताहुआ किसी दिन ब्रह्मनिष्ठ बनजावेगा। अतः इसप्रकारके लक्षण ब्रह्मनिष्ठमें अवश्य होतेहैं और होने चाहिए। यही ब्रह्मनिष्ठ या ब्रह्मज्ञानीकी पहचानहै।

ब्रह्मज्ञानी निषिद्ध आचरण नहीं करता। क्योंकि पंचदशीके द्वैतविवेकप्रकरणमें श्लोक ५५ में ऐसा कहाहै—

बुद्धाद्वैतस्यतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे॥

अद्वैतस्वरूपब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानीका यदि यथेष्टाचरण या मनमाना आचरण होगा, तो वह अशुचिपदार्थोंकाभी सेवन करने लगेगा, ऐसा होनेपर कुत्तोंकी और तत्त्वज्ञानियोंकी कोई विशेषता नहीं रहेगी अर्थात् ऐसे तत्त्वज्ञानियोंको कुत्तोंके समान समझना चाहिये। ग्रन्थोंमें जहां कहींपर ज्ञानीको निषिद्धाचरणमें अवकाश दियाहै वहांपर वे वचन, केवल ज्ञानकी प्रशंसाकेलिए कहेगयेहैं, किन्तु वर्तावकेलिए नहीं हैं। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो उन्हीं ग्रन्थोंमें "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" जैसा जैसा आचरण बड़ा मनुष्य करताहै वैसा २ ही आचरण छोटा मनुष्यभी करताहै। इसप्रकारके कहेहुए सब वाक्य, शिष्टाचारके आदर्शरूपमनुष्यके अभावमें व्यर्थ होजावेंगे। इसलिए ज्ञानीका भ्रष्टआचरण नहीं होताहै। इसप्रकार यह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुका लक्षण कहागयाहै। उक्त मन्त्रमें जो "समित्पाणिः" ऐसा वाक्य आयाहै उसका अर्थहै कि जब जिज्ञासु, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जावे तो उसके हाथमें समित् अर्थात् पलाशवृक्षकी सूखीहुई छोटी छोटी लकड़ियां होनीचाहिएं। क्योंकि वे समिधाएं गुरुजीके अग्निहोत्र कर्मकेलिए काम आवेंगी। क्योंकि उपनिषदोंमें जहां तहां शिष्यकेलिए "समित्पाणिः" ऐसाही वाक्य प्रयुक्त हुआहै—इससे ज्ञात होताहै कि पूर्वसमयमें ब्रह्मविद्याके आचार्य, अग्निहोत्री गृहस्थीही हुआ करतेथे। संन्यासियोंका कोईभी नियत स्थान न होनेसे उनके गुरु बनानेमें उपनिषदों तथा स्मृतियों तथा असांप्रदायिक पुराणोंमें कोई ऐसी "समित्पाणिः" जैसी अन्य कोई विधि नहीं पाईगई

है। पुराणोंमें जहां कहींपर, जड़भरत आदिकेद्वारा किसीको ज्ञानदेनेकी चर्चा आईहै–वहांपर कोई विधि नहीं देखीगईहै। उन्होंने केवल चलते फिरतेही जिस किसीको ज्ञानोपदेश करदियाहै। "समित्पाणिः" वाक्यका यहभी अभिप्रायहै कि पूर्वकालमें ब्रह्मविद्याके गुरुलोगोंका, विद्या प्रदान करना व्यापार नहीं था–वे उसकेद्वारा अपना जीवनयापन नहीं किया करतेथे। वे तो स्वधर्मसे न्यायोपार्जित धनकेद्वारा अपना जीवन निर्वाह किया करतेथे। वे विनाही किसी अपने स्वार्थके अधिकारीको ज्ञानोपदेश दियाकरतेथे। राजा जनकने याज्ञवल्क्यकेद्वारा अपने प्रश्नोंका उत्तर सुनकरके अतिहर्षित तथा तृप्त होतेहुए गद् गद् वाणीसे उनको कहाकि हे भगवन्, आप इस राज्यको संभालो और मैं आपकी सेवा दासबनकर करूंगा। ऐसा सुनतेही याज्ञवल्क्यने कहा कि नहीं ऐसा नहीं होसकता। ब्रह्मज्ञानका विक्रय नहीं होता। इसके प्रतीकारमें मैं आपसे कुछभी नहीं लूंगा। क्योंकि याज्ञवल्क्यजी वास्तवमेंही ब्रह्मनिष्ठ थे। यह आख्यायिका बृहदा० उपनिषद्‌मेंहै। दूसरी बात यह कि नाहीं ऐसा धर्मशास्त्रोंमें कहींपर देखने में आयाहै कि ब्रह्मज्ञानके उपदेशद्वारा किसी गुरुने किसी शिष्यका सर्वस्व लेलियाहो। परन्तु अवतो कोई व्यक्ति, अग्निहोत्री ब्रह्मनिष्ठ गुरुही नहींहै, यदि अग्निहोत्रीहै तो वह ब्रह्मनिष्ठ नहींहै। प्रायः ऐसा कोई व्यक्ति देखनेमें नहीं आरहाहै। कोई एक होगा। अतः अब समिधाएं किसके पास लेजाए। इससे गुरुकी शरणमें जानेवाला जिज्ञासु, कुछ न कुछ पत्र पुष्प फल आदि अपनी योग्यताके अनुसार हाथमें लेकर जाए किन्तु खाली हाथ नहीं जावे। क्योंकि गुरुसे किसी ग्रामका मार्ग या रेल गाड़ीका टायम या किसी व्यापार आदिका प्रकार तो पूछने नहीं जानाहै। उससे तो अमूल्यनिधि ब्रह्मविद्याको ग्रहणकरना है–इससे, रिक्त हाथ या खाली हाथ जाना उसके पास उचित नहींहै। मेरेद्वारा लिखीहुई यह "वैदिकब्रह्म विचार" नामकी पुस्तक आपको ज्ञानदेनेमें बहुत सहायक बनेगी, तोभी पुस्तकें मृतगुरु होतीहैं, इनसे मनवांछित समाधान नहीं मिलता। इसलिए ज्ञानको जीवितगुरुकी शरणमें जाकरही ग्रहणकरनाचाहिये। ऐसी ही प्रणाली देवताओं ऋषियों और मनुष्योंमें उपनिषदोंद्वारा देखीगईहै।

"समित्पाणिः" वाक्यका अर्थ होचुका। मन्त्रमें "तस्मै" इस पदसे कहा-गया ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्का जो शिष्यके प्रति कर्तव्य, अब उसपर ध्यान देनाचाहिए। विद्वान्को चाहिए कि वह उसके प्रति नहीं, जोकि दूरसे-ही पत्र व्यवहारकेद्वारा ज्ञान प्राप्त करनाचाहताहै, किन्तु उस शिष्यके प्रति, जो शिष्य पासमें आयाहुआहै। तथा उसके प्रति नहीं, जोकि भलीप्रकारसे शांन्त चित्तवाला नहीं, परन्तु उस शिष्यके प्रति जोकि पूर्णरीतिसे शांत मनवालाहै। और उसके प्रति नहीं, जोकि नाना प्रकारकी पुत्र या धन आदिकी प्राप्तिरूप कामनाएं मनमें रखतेहुए अपनी शरणमें आयाहै। पर उस शिष्यके प्रति, जोकि इस लोक और स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोकके भोगोंकी इच्छावाला नहींहै अर्थात् जोकि विवेक वैराग्य शम आदि साधन संपत्ति और मुमुक्षुता इन चारों ज्ञानके साधनोंसे युक्तहै। उस शिष्यके प्रति ब्रह्मविद्याको वास्तविकतासे कहना चाहिए, जिस विद्यासे वह अविनाशी सत्यपुरुष परमात्माको जानले। और वह श्रवण आदिकेद्वारा सच्चा ब्रह्मज्ञानी बनजावे।

१—श्रवण=गुरुकेमुखसे "तत्त्वमसि" आदि जीव और ब्रह्मके अभेद बोधक वाक्योंको सुनना।

२—मनन=एकांतमें, जीव और ब्रह्मके अभेदको सिद्ध करने-वाली युक्तियोंके सहित सुने हुए वाक्योंका मनन करना। इनकेद्वारा अधिकारी ब्रह्मवित् होजाताहै। ३—निदिध्यासन या सविकल्प समाधि =बुद्धि वृत्तिका स्वस्वरूप सच्चिदानन्दब्रह्ममें, मैं सच्चिदानन्दब्रह्महूं इसप्रकार शांतप्रवाहरूपसे एकाग्र बने रहना। इसकेद्वारा ब्रह्मवित् व्यक्ति, ब्रह्मनिष्ठ होजाताहै। ४—निर्विकल्पसमाधि=मैं सच्चिदानन्द-ब्रह्म हूं, इस वृत्तिकाभी सर्वथा निरुद्ध होजाना, इसकेद्वारा ब्रह्मनिष्ठ-व्यक्ति, ब्रह्म होजाताहै। तात्पर्य यहहैकि विवेक आदि ज्ञानके साधनोंसे रहित अनधिकारी मनुष्यभी, श्रवण मननकेद्वारा ब्रह्मवित् होजाताहै-जैसाकि इतिहास पुराणोंसे पता चलताहैकि बड़े बड़े हिंसक राक्षसभी ब्रह्मज्ञान कथनकेद्वारा ब्रह्मवेत्ताथे। ऐसेही अबभी, विषयभोग लम्पट, अपने आश्रमधर्मसे सर्वथा विरुद्ध कार्य करनेवाला बहुतसा समाज वांचकज्ञानी ब्रह्मवेत्ता बनाहुआहै। परन्तु जो व्यक्ति, विवेक आदि

ज्ञानके साधनोंद्वारा, श्रवण मनन निदिध्यासन और समाधिकरके ब्रह्म वित् होताहै वास्तवमें वही ब्रह्मवित्‌है, जोकि "मनुष्याणां सहस्रेषु" गीता के इस श्लोकानुसार, सहस्र मनुष्योंमें कोई एक ज्ञान प्राप्तिकेलिए यत्न करताहै और यत्नकरनेवाले सिद्ध पुरुषोंमेंभी कोई एक यथार्थरूपसे आत्माको जानताहै। ऐसा ब्रह्मवित् दुर्लभ तथा पूज्यहै। कई करोड़ोंमें कोई एक होगा। शिष्यको ऐसा यथार्थ ब्रह्मज्ञानी बनादे।

इसप्रकार इन उक्त मुंडक के २ मन्त्रोंकी व्याख्या होचुकीहै। जिससेकि वह सत्यज्ञानानन्द, उपास्य तथा प्राप्य ब्रह्म न होकर ज्ञेयब्रह्म है। इससे उसकी उपासना और प्राप्ति संभव नहीं है। अतः उसका तो केवल ज्ञान या जानना ही बनताहै। उसका ज्ञान, श्रवण या विचारकेद्वारा ही होसकता है। अतः वह विचार गुरुकेद्वारा आरम्भ की जातीहै। तैतरीय० में ब्रह्मानन्दवल्लीके ८ अनुवाक में श्रुति—"स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।"

वह जो इस पुरुषमेंहै और जो उस आदित्यमेंहै वह दोनोंमें एकहै। तैतरीय० में भृगुवल्लीके दश अनुवाकमें श्रुति—"स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः" वह जो इस पुरुषमेंहै और जो उस आदित्यमेंहै वह दोनोंमें एकहै। यह श्रुतियोंका अर्थहै। इन श्रुतियोंमें यह बताया-गयाहैकि जो सत्यज्ञानानन्दब्रह्म, इस उपासक जीवमें है, वही वस्तु उस आदित्य उपास्यदेवमें है। अब विशेषरूपसे देखनाहै कि इस पुरुषमें क्या है और उस आदित्यमें क्या है।

जो सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे आवृतहै वह, मलिन सत्वगुणप्रधान कहलाताहै—मलिन सत्वगुणप्रधान बुद्धिवृत्तिके सहित सच्चिदानन्दका नाम जीवहै। यह पुण्यपापका करता तथा उसके फल-रूप सुखदुखका भोक्ता और अल्पज्ञ आदि धर्मोंवालाहै। इतनी सामग्री तो 'अयं' पदके वाच्य पुरुषनामी जीवमें है। जो सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुणको आप आवृतकरले वह सत्वगुण, शुद्धसत्वगुणप्रधान होता है। शुद्धसत्वगुणप्रधानमायावृत्तिकेसहित सच्चिदानन्दका नाम ईश्वर-है। वह आकाश आदि पांच स्थूलभूतोंकी सृष्टि करनेवाला सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमत्ता आदि धर्मोंवालाहै। इतनी सामग्री 'असौ' पदके वाच्य

आदित्य स्थानी ईश्वरमें है।

ऊपरमें कही गई दोनों श्रुतियोंने जो इस पुरुषमें है और जो उस आदित्यमें है वह एकहै–ऐसा कहतेहुए जीव और ईश्वर इन दोनों-की एकता प्रतिपादनकीहै। परन्तु जो शुद्धसत्वमयी इच्छा तथा प्रचंड प्रकाशमयरूप, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म आदित्यब्रह्म ईश्वरमेंहै, वे ही धर्म क्या मलिनसत्वगुणप्रधान त्वकमांसास्थिमयशरीरि अल्पदृष्टि अल्पज्ञ तथा सामान्यशक्ति आदि धर्मोंवाले पुरुष नामी जीवमेंहैं। जीवमें तो ईश्वरके उक्त ये धर्म नहींहैं। यह तो प्रत्यक्षमें विरोधहै। तब फिर इन परस्पर विरोधि धर्मवालोंकी एकता कैसे होसकतीहै। श्रुतियां इनकी एकता कथन करतीहैं। परन्तु विरोधि धर्मवालेहोनेसे इन दोनोंकी एकता बनती नहींहै। इन श्रुतियोंको चरितार्थ करनेके–लिए यहां भागत्यागलक्षणाको स्वीकार करनाचाहिये। दोनों भागोंमें से विरोधि एक २ भागके त्यागदेनेका नाम भागत्यागलक्षणा कहीजाती-है। उसका उदाहरण इसप्रकार समझना चाहिए। जैसा किसी मनुष्य-ने किसी व्यक्तिसे कहाकि वह जो कुछ इस द्वारपालमें है और जो कुछ उस राजामें है वह एकहै। उस सत्यवक्ताके मुखसे ऐसा सुनतेही वह व्यक्ति भ्रममें पड़गया। उसने विचार किया कि इस द्वारपालमें वह राज्यशक्ति कहांहै। राजा तो जोभी चाहे वही करसकताहै। यह उसका दासहै उसकी समतामें यह नहीं होसकताहै। ऐसा विचारकर उसने कहाकि भगवन्, मेरी बुद्धिमें द्वारवाल और राजाकी एकता नहीं बैठती-है। तब उस सत्यवक्ताने कहाकि द्वारपालभी मनुष्यहै और राजाभी मनुष्यहै। अबतो इनकी एकतामें कुछ अन्तर नहींहै। जिज्ञासुने फिर उससे कहाकि इससेभी इनकी एकता नहीं बनतीहै। क्योंकि यह द्वार-पालहीहै। सबलोग, इसे द्वारपालही पुकारतेहैं, मनुष्य तो इसे कोईभी नहीं कहरहाहै। राजाकोभी सभी लोग, राजाही कहतेहैं, उसे मनुष्य तो कोईभी नहीं कहरहाहै। इसीलिए इनकी यह एकता गौणीसी एकताहै, परन्तु यह इनकी एकता कीमतवाली मुख्यएकता नहींहै। तब उस दयालुमनुष्यने कहाकि यूँकरो–इन दोनोंमें जोभी अंश इनकी एकताके विरोधिहैं उन भागोंको त्यागदो। तात्पर्य यहहै कि "राज्य

नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकस्तयोरपोहे न भटो न राजा।" विवेकचूड़ामणि
इस श्लोकानुसार, द्वारपालमेंसे उसके वेषको और खड्ग आदि शस्त्रों
को उससे अलग करदो, उसका एकभाग मनुष्यशरीर रहने दो, ऐसे
राजामेंसे उसकी छत्र चामर आदि राज्यसामग्री अलग कीजए और एक
भाग उसका मनुष्यशरीर रखाजाए तब तो वह राजा और वह द्वार-
पाल नहीं कहाजाएगा। तबतो मनुष्यत्वमें उनकी एकतामें कोई बाध
नहीं रहेगी। तब जिज्ञासुने मानलिया कि यह इनकी निरुपाधि एकता
वास्तवमेंही मुख्य एकताहै। गुरुने कहाकि इसीका नाम भागत्याग-
लक्षणाहै। श्रुतियोंने इसी लक्षणावृत्तिकेद्वारा जीव और ईश्वर इन
दोनों की एकता, दोनोंमेंसे विरोधिभागोंका निषेधकरकेही बतलाईहै।
बृहदा० अ० २ ब्राह्मण ३ "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च" ब्रह्मके
दो रूपहैं, एक मूर्तहै और दूसरा अमूर्तहै। इसके आगे श्रुतिने तेज जल
और पृथ्वी इनको मूर्त बतायाहै तथा आकाश और वायुको अमूर्त
बतायाहै। मूर्तका सार "य एष तपति" जो यह तपनेवाला सूर्यमण्डलहै।
और अमूर्तका सार "य एष एतस्मिन्मंडले पुरुषः"—जो यह इस मण्डलमें
पुरुषहै ऐसा कहाहै। यह देवतामें ब्रह्मका रूप कहाहै। "अथाध्यात्मं"-
अब अध्यात्म कहाजाताहै कि मूर्तका सार यह जो पुरुषका दाहिना
नेत्रहै और अमूर्तका सार "योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः"—जो यह दाहिने नेत्रमें
पुरुषहै। यह श्रुतियोंका अर्थहै। इसप्रकार ब्रह्मका सर्वसाधारण जीवों-
में मनुष्यरूप सबसे उत्तमहै, तथा ब्रह्मकाही उच्चकोटिके ब्रह्मा विष्णु
तथा शिव आदि देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ सबसे बड़ा सविता या सूर्यरूपहै।
सच्चिदानन्द ब्रह्मके ये ही दोनों रूप, ईश्वर और जीवके नामसे व्यवहृत
होतेहैं या कहेजातेहैं। तात्पर्य यहकि एकपाद विशुद्धसच्चिदानन्दब्रह्म-
के, ब्रह्म अन्तर्यामी अपरब्रह्म और वैश्वानर ये चारोंपाद सूर्यदेवता
विषयकहोनेसे अधिदैव कहेजातेहैं। क्योंकि ब्रह्मका देवताओंमें सबसे
बड़ा सूर्यशरीरहीहै। उसी ब्रह्मके, आत्मा प्राज्ञ तैजस और विश्व ये
चारोंपाद मनुष्यशरीर विषयकहोनेसे अध्यात्म कहेजातेहैं। क्योंकि
ब्रह्मका अध्यात्माओंमें कर्मयोनिहोनेसे सबसे उत्तम मनुष्य शरीरहै।
जिससेकि सच्चिदानन्दब्रह्मके ये दोनोंरूप, महाप्रलयमें नहीं

रहतेहैं—वहां एक वही रहताहै, इसीसे ये दोनोंरूप उसके वास्तविक-रूप नहींहैं। इसीलिए ब्रह्मके इन मायामय तथा त्रिगुणात्मक दोनों-रूपोंका श्रुतियोंद्वारा निषेध कियागयाहै। ऊपरमें पांच श्रुतियोंका सारभूत अर्थ कियागयाहै। उनके आगेकी छठी श्रुति यहहै—"अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति"—इस श्रुतिका अर्थ यह है जिससेकि सच्चिदानन्दब्रह्मके ये दोनोंरूप वास्तविकरूप नहीं हैं "अत:" इसीकारणसे, 'अथ=अब' 'नेति नेति'=यह नहीं यह नहीं, ऐसा 'आदेश'=उपदेशहै, एवं यह भी नहीं तथा इससे और कुछ भिन्नभी नहींहै। इस श्रुतिमें नेति नेति इसप्रकार दो नकार दियेगएहैं। इनमेंसे एक न केद्वारा तो ईश्वरपनेकी उपाधि जो शुद्धसत्वगुणप्रधान-माया या इच्छा, उसके कारण जो ब्रह्मका हुआ ईश्वर अपरब्रह्म और वैश्वानर रूपहै, उसरूपका निषेध कियागयाहै। और दूसरे न केद्वारा जीवपनेकी उपाधि जो मलिनसत्वगुणप्रधानअविद्या या इच्छा, इसके कारण जो ब्रह्मात्माका हुआ प्राज्ञ तैजस और विश्व रूपहै—इस रूपका निषेध कियागयाहै। श्रुतिमें आयाहुआ यहभी नहीं तथा इससे और कुछ भिन्नभी नहींहै—इस वाक्यका भाव यहीहै कि ब्रह्मका माया और अविद्याके सहित ईश्वर तथा जीवरूप, वास्तविकरूप नहींहै। इससे इसका निषेध करनाही उचितहै। यदि ब्रह्मके इन ईश्वर जीवरूपी स्व-रूपोंको सर्वांशमें त्यागदें तो ब्रह्म इनसे अलग नहींहै। वह ज्ञेयहै। उस-का त्याग वांछित नहींहै। इसलिए भागत्यागलक्षणाकेद्वारा इन दोनों रूपोंमेंसे विरोधि अंशको त्यागकर उसका ग्रहण करना उचितहै। ब्रह्मके रूप, आदित्य=ईश्वरमेंसे तो विचारकेद्वारा जो शुद्धसत्वमायारूपी कारण सूक्ष्म और स्थूलशरीररूपहै, इस एकताके विरोधि वाच्यांशको अलग करदीजिये, उसमें केवल लक्ष्यस्वरूप सत्यब्रह्मको रहनेदीजिये। इसीप्रकार ब्रह्मात्माकेरूप, पुरुष जीवमेंसे विवेककेद्वारा जो मलिनसत्व अविद्यारूपी कारण सूक्ष्म और स्थूलशरीररूपहै, इस एकताके विरोधि वाच्यभागको दूर कीजिये। इसमें केवल लक्ष्यस्वरूप ब्रह्मात्माको रहने-दीजिये। ब्रह्मनाम सच्चिदानन्द स्वरूपकाहै। इसप्रकार द्वारपाल और राजाके दृष्टांतके समान, निरुपाधि रूपमें, ईश्वर और जीव, इन दोनों-

की एकतामें कुछभी विरोध नहींहै। 'नेति नेति' यह नहीं यह नही और इससे भिन्नभी कुछ नहीहै—इस श्रुतिका वास्तविक अर्थ यहीहै। इसीलिये वह जो इस पुरुषमेंहै और जो उस आदित्यमेंहै वह एकहै—इन पूर्वोक्त श्रुतियोंका ऐसा कथन सत्यही है।

"परीक्ष्य०" इन पूर्वोक्त मन्त्रोंसे, गुरुकेद्वारा कहनेयोग्य तत्त्वसे ब्रह्मविद्याका उक्तप्रकारसे वर्णन कियागया। मुंडक उप० के प्रथम खण्डमें वर्णन की हुई यही पराविद्याहै—जिसके द्वारा विरोधि वाच्यभागका निषेधकरके अविनाशी पुरुष जानाजाताहै। इसीसे वह सच्चिदानन्दस्वरूप 'अद्रेश्यं०' न जाननेमें आनेवाला आदि अविनाशी ब्रह्महै।

बृहदा० अ० १ ब्राह्मण ४ "तदाहुः" इत्यादि ९ वीं श्रुति ने स्वयं यह प्रश्न उठायाहै कि मनुष्य, जिस ब्रह्मविद्याकेद्वारा अब ऐसी संभावना करतेहैं कि हम सर्वरूप होजाएंगे पहले किस महापुरुषने उस ब्रह्मको जाना—जिससे कि वह सर्वरूप होगया। इस प्रश्नका उत्तर १० वीं श्रुति देतीहै कि वह पहलेभी वास्तवमें ब्रह्मही था. परन्तु बीचमें कुछ अज्ञान आगया—जिससे कि वह अपने वास्तविक ब्रह्मरूपको भूल सा गया। फिर कुछही समयके अनन्तर उसने अपने आपको "अहंब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्महूं, ऐसा जानलिया—इससे वह फिर सर्वरूप होगया, अर्थात् वह ब्रह्म होगया। उसके अनन्तर देवताओंके बीचमें जिसने उसको जानलिया वह ब्रह्म होगया तथा ऋषियोंके बीचमें जिस ऋषिने उसे जाना वह भी ब्रह्म होगया तथा मनुष्योंके बीचमें, जिस मनुष्यने ब्रह्मको जानलिया वहभी ब्रह्म होगया। इसीसे वामदेव ऋषिने अपनी सर्वात्मरूपताको प्रकट करतेहुए कहाहैकि मैं हीं मनु था, मैं ही सूर्यहूं ऐसा उसने अपना अनुभव बताया। अबभी यदि कोई मनुष्य, अपनेको "अहंब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं इसप्रकार विवेककेद्वारा जानलेताहै वह सब कुछ होजाताहै। देवताभी उसकी अपेक्षा महावीर्य नहीं होते और उसके ऐश्वर्यके रोकनेको समर्थ नहीं होते। क्योंकि वह इन देवताओंका आत्मा होजाताहै। जो मनुष्य, अपनेसे भिन्न किसी देवताकी उपासना करताहै कि वह देवता मेरेसे भिन्नहै और मैं उससे भिन्न हूं वह अज्ञानी है। वह देवताओंका पशु अर्थात् पालन करनेवालाहै। जैसाकि बहुत

पशु, मनुष्यका पालनकरतेहैं, इसीप्रकार एक एक मनुष्य, देवताओंका अग्निहोत्र आदि कर्मकेद्वारा पालनकरताहै। यदि मनुष्यके बहुतसे पशुओंमेंसे कोई एक पशु किसी हिंसक जीवकेद्वारा माराजाताहै तो उस मनुष्यको दुख होताहै। बहुत मारेजावें तो अत्यन्तही दुख होताहै। इसीलिये मनुष्योंका ब्रह्मज्ञानी होजाना देवताओंको प्रिय नहींहै। (क्योंकि वे मुक्त होजातेहैं) यह श्रुतियोंका अर्थहै।

पारमार्थिक द्वैत

श्रीमध्वाचार्यजी तथा श्रीरामानुजाचार्यजी आदि भक्तजन, यह मानतेहैंकि इस शरीरमें पहले सत् चित् रूप जीवात्माहै, इसके पीछे माया और उसके पीछे सच्चिदानन्द ईश्वरान्तर्यामीहै। जीवात्मा, परमात्मज्ञानद्वारा उसकी भक्तिकरके मोक्षकी अवस्थामें उसकी समीपता प्राप्तकरके उसकी कृपासे उसके सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि ग्राह्य ऐश्वर्यको भोगताहै। इसप्रकार ये सभी भक्तलोग, मोक्षमेंभी जीव और ईश्वरकी भिन्न २ स्थिति मानतेहैं, यह पारमार्थिक द्वैतहै यानी परमार्थमेंभी दो का बने रहना। न्यायशास्त्र और वैशेपिकशास्त्र ये दोनों यह मानतेहैं, कि मोक्षमें मन अलग होजाताहै और जीवात्मा अपने सत्तामात्र या जड़रूपसे स्थित होजाताहै। दोनोंही भिन्न २ होकर रहतेहैं। सांख्यदर्शन और योगदर्शन ये दोनों यह मानतेहैंकि बुद्धि या प्रकृति अलग होजातीहै और पुरुप =जीवात्मा अपने चैतन्यमात्ररूपसे स्थित होजाताहै, यह सब पारमार्थिक द्वैतहै अर्थात् मोक्षमेंभी दो का बने रहना। इसीसे ऐसा माननेवाले ये सभी लोग, द्वैतवादी कहलातेहैं। क्योंकि इनके मतसे व्यवहारमें तथा परमार्थमें भी दोनों अवस्थाओंमें द्वैतहै।

पारमार्थिक अद्वैत

एकही सच्चिदानन्दब्रह्म, कार्यरूप सूक्ष्मशरीरकी उपाधिसे जीव कहलाताहै और कारणशरीररूप आनन्दमयकोशकी उपाधि या स्थानसे प्राज्ञ = ईश्वरान्तर्यामी कहाजाताहै। तथा कार्य और कारणरूप उपाधिसे रहितहुआ वही परमात्मा अर्थात् ब्रह्महै। कैवल्यमोक्षकी अवस्थामें, कार्य तो कारणमें लीन होजाताहै। और कारणशरीर प्रकृति आनन्दमयकोश स्पन्दशक्ति अस्मि अथवा इच्छाशक्ति, स्वाश्रय

सच्चिदानन्द आत्मामें विलीन या ब्रह्माश्रया होजातीहै। क्योंकि शक्ति, शक्तिवानसे पृथक नहीं रहसकती। इसप्रकार केवल सच्चिदानन्दब्रह्मात्माही शेष रहजाताहै। यह पारमार्थिक अद्वैतहै, अर्थात् व्यवहारमें अविद्याद्वारा द्वैतसाहै किंतु परमार्थरूपी कैवल्यमोक्षमें अद्वैतहै। इसके माननेवाला अद्वैतवादी कहाजाताहै। परन्तु जो व्यक्ति, एकही शरीरमें माया और अविद्या इन दोनों उपाधियोंकी स्थिति स्वीकार कर, जीव और उपास्य ईश्वरकी स्थितिमानताहै वह अद्वैतवादी कहलानेका अधिकारी नहींहै। वह मूढ़है। उसे अद्वैतसिद्धान्तका कुछभी अनुभव नहींहै। क्योंकि एक शरीरमें नखसे लेकर शिखा पर्यन्त एकही उपाधि रहतीहै दोनों नहीं रहतीं। अन्य सभी शास्त्रोंमें अद्वैतसिद्धान्तका खंडन पायागयाहै। परिशेषतः अद्वैतसिद्धान्त, ब्रह्मसूत्रकाही सिद्धहोताहै। इसके मुख्य आचार्य अब आद्य श्रीशंकराचार्यजीही मानेजातेहैं।

तत्त्वमसि का अर्थ

प्रिय पाठको! "तत्त्वमसि" यह वाक्य छांदोग्य उपनिषद् अध्याय ६ खण्ड आठसे लेकर सोलहवें खण्ड तक नौ बार आचुकाहै। अद्वैतसिद्धांतवाले लोग, इस वाक्यको महावाक्यके नामसे ग्रहण करतेहैं। यह वाक्य मनुष्यको अपने वास्तविक स्वरूपका बोध वैज्ञानिक रीतिसे कराताहै, "स्वर्ग है" इसप्रकार परोक्षरूपसे नहीं। अतः इसे वास्तवमें ही महावाक्य कहना और मानना उचितहै। यह वाक्य, विवेक आदि साधनसम्पन्न मनुष्यको दांसतासे छुड़ाकर स्वतंत्र बनादेताहै। अतः यह महावाक्य ही है।

यद्यपि अद्वैतसिद्धांतकी प्रक्रियाएँ अनेकों हैं, और उन सबका ब्रह्म आत्माकी एकतामें ही पर्यवसानहै, तथापि केवल प्रक्रियाओंमें श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य, तत्त्वको वस्तुतः नहीं जानपाता। इसलिए मनुष्य जबतक छठे अध्यायके सोलह खण्डोंको बहुत सावधानीसे नहीं पढ़लेता अथवा किसी अध्ययनशील अभ्यासी व्यक्तिसे एकाग्रमन होकर श्रवण नहीं करलेता, तबतक उसे "तत्त्वमसि" वाक्यका अर्थ भलीभांति भान नहीं होता। क्योंकि यह वाक्य नौ बार कहाजाचुकाहै और यह भिन्न २ स्थानोंमें प्रवृत्त हुआहै। इसीलिए "तत्त्वमसि" वाक्यके यथार्थ

बोधकेलिए सोलहखण्डोंका लिखना परमावश्यकहै।

स्मरणरहेकि छठे अध्यायमें "सत्" इस पदसे सत् चित् आनन्द या सच्चिदानन्द, ब्रह्मका ऐसा पूर्णरूप कहागयाहै। क्योंकि सभी उपनिषदोंमें ब्रह्मका पूर्णरूप सच्चिदानन्द ही निश्चित हुआहै। अपना रूप होनेसे सच्चिदानन्द ही आत्माहै। जड़का प्रकाशक होनेसे इसीका नाम परमात्माहै। इस अध्यायमें इसका नाम देवता भी कहागयाहै।

छठा अध्याय

"श्वेतकेतुर्हारुणेय आस०"–अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था। उसके पिता (उद्दालक) ने उससे कहा—हे श्वेतकेतो ! तू ब्रह्मचर्य वास कर, क्योंकि हे सोम्य ! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा नहीं होता ॥१॥ वह श्वेतकेतु बारहवर्षकी अवस्थामें उपनयन कराकर चौबीसवर्षकाहोनेपर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके अपनेको बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्यान करनेवाला मानता था। अनम्रभावसे वह घर लौटा। उसके पिताने कहा—हे सोम्य ! तू जो ऐसा महामना, पंडितंमन्य और अविनीतहै, सो क्या तूने वह आदेश पूछाहै ॥२॥ जिसकेद्वारा अश्रुत श्रुत होजाताहै, अमत मत होजाताहै और अविज्ञात विज्ञात या विशेषरूपसे ज्ञात होजाताहै। यह सुनकर श्वेतकेतुने पूछा—भगवन् ! वह आदेश कैसाहै ॥३॥

हे सोम्य ! जिसप्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डकेद्वारा सम्पूर्ण मृण्मय पदार्थोंका ज्ञान होजाताहै कि विकार (घट आदि कार्य) केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्रहैं सत्य तो केवल मृत्तिका ही है ॥४॥ हे सोम्य ! जिसप्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्ण रूप) पदार्थ जानलिये जातेहैं, क्योंकि विकार (कड़ा कुण्डल आदि) वाणी पर अवलंबित नाममात्रहै, सत्य केवल सुवर्ण ही है ॥५॥ हे सोम्य ! जिसप्रकार नखनिकृन्तन (नहरना) के ज्ञानसे (लोह पिण्डके ज्ञानसे) सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जानलियेजातेहैं, क्योंकि विकार वाणी पर अवलम्बित केवल नाममात्रहै, सत्य तो केवल लोहा ही है। हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश भी है ॥६॥ (श्वेतकेतु बोला) निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते

होते तो मुझसे क्यों न कहते। अतः अब आप ही मुझे वह बतलाइए। तब पिताने कहा सोम्य ! अच्छा (बतलाता हूं) ॥७॥ खण्ड ॥१॥

दूसरा खण्ड

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्०" हे सोम्य ! पहले यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसीके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहाहै कि आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् (शून्य) ही था। उस असत् से सत्की उत्पत्ति होतीहै ॥१॥ भावार्थ—सत् शब्दसे सर्वत्र, सत् चित् आनन्द ऐसा ब्रह्मका पूर्णरूप समझना चाहिए। शांकर भाष्य-"सदेव सदित्यस्तितामात्रं वस्तु सूक्ष्मं निर्विशेषं सर्वगतमेकं निरञ्जनं निरवयवं विज्ञानं यदवगम्यते सर्ववेदान्तेभ्यः"। 'सदेव' सत् यह अस्तित्वमात्र वस्तुका बोधकहै, जोकि सम्पूर्ण वेदान्तोंसे सूक्ष्म, निर्विशेष, सर्वव्यापक, एक, निरंजन, निरवयव और विज्ञानस्वरूप जानी जातीहै। भाष्यने "सत्" के ऐसे विशेषण दियेहैं। अर्थात् यह जो नामरूप एवं क्रियावान् विकारी जगत् दिखाई देताहै अपनी उत्पत्तिसे पहले सत् ही था। शां० भाष्य-"न हि प्रागुत्पत्तेर्नामवद् रूपवद्वेदमिति ग्रहीतुं शक्यं वस्तु सुषुप्तकाल इव। यथा सुषुप्तादुत्थितः सत्त्वमात्रमवगच्छति, सुषुप्ते सन्मात्रमेव केवलं वस्तु इति तथा प्रागुत्पत्तेरित्यभिप्रायः"। सुषुप्तकालके समान उत्पत्तिसे पूर्व यह नामयुक्त अथवा रूपयुक्तहै, इसप्रकार वस्तुका ग्रहण नहीं कियाजासकता। जिस-प्रकार सोकर उठा हुआ पुरुष वस्तुकी सत्तामात्रका अनुभव करताहै, अर्थात् केवल इतना ही जानताहै कि सुषुप्तिमें केवल सन्मात्र वस्तु थी, उसीप्रकार उत्पत्तिसे पूर्व जगत् था, ऐसा ही इसका अभिप्रायहै ॥१॥

"कुतस्तु खलु०" किन्तु हे सोम्य ! ऐसा कैसे होसकताहै ? भला असत् (शून्य) से सत्की उत्पत्ति कैसे होसकतीहै अतः हे सोम्य ! आरम्भमें यह (नामरूपात्मक जगत्) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था, ऐसा आरुणिने कहा ॥२॥ भावार्थ—इसप्रकार पूर्वोक्त भाष्यने महाप्रलय स्थित सद् वस्तुको निर्विशेष निरवयव एवं निरंजन बतलाते हुए स्वगत सजातीय और विजातीय-इन तीनभेदोंसे रहित अखण्ड अद्वैत ब्रह्म सिद्ध कियाहै। इसीप्रकार पंचदशीके पंचमहाभूत विवेक प्रकरणमें भी महाप्रलयकालीन सत्को, स्वगत आदि तीनभेदोंसे शून्य "तथा सद्वस्तुनः०"

श्लोक २१, इससे लेकर "विजातीयं०" श्लोक २५, यहां तक अखण्ड अद्वैत ब्रह्म सिद्ध कियाहै।

यदि कोई व्यक्ति उस अवस्थामें सद् वस्तुको मायारूपी विशेषण-के सहित मायाविशिष्ट बताए तो उसकेलिए कोई दृष्टांत नहींहै। क्या कोई भी वैज्ञानिक (साइन्सदान) घट आदि कार्यकी उत्पत्तिसे पहले मृत्तिकाके 'इस देशमें घड़े हैं', 'उस ओर मटके हैं' और 'अमुक ओर सकोरे हैं' ऐसा बतलासकताहै ? किन्तु जो वह मृत्तिकाकी अव्याकृत अवस्था या पिण्डरूप कारण अवस्थाहै उसमें भी ऐसा बतलाना असंभव-है। इसलिए मृत्तिका शुद्धहै, अद्वैतहै और एकहै। इसीप्रकार सोने और लोहेको भी कार्यकी उत्पत्तिसे पहले निर्विशेष अद्वैत और एक जानना चाहिए। जब कोई भी व्यक्ति सुषुप्तिमेंके सत् आत्माके 'उस ओर वेदहै' 'उस ओर कुरानहै' तथा 'उस ओर बाइबिलहै' तथा 'आस्तिकता–नास्तिकता, साधुता–असाधुताहै' आदि सिद्ध नहीं कर-सकता। तब फिर महाप्रलयकालीन अनन्त सद् ब्रह्मके 'उस देशमें मायाहै' और 'उस ओर जीवहैं' ऐसा कैसे सिद्ध करसकेगा ? अतः वह सत्, मृद् आदि तीन दृष्टांतोंके अनुसार द्वैतरहित शुद्ध ब्रह्म था। यदि कोई व्यक्ति "सदेव" इस श्रुतिका ऐसा अर्थ करे कि सत्, स्वगत आदि तीन भेदोंसे तो रहितहै, परन्तु वह मायाविशिष्टहै, उसका ऐसा कथन परस्पर विरोधिहोनेसे मान्य नहीं। अतः वह सत् मायारहित शुद्ध ब्रह्म था, ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥२॥

"तदैक्षत०" उस (सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत होजाऊं'–(अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊं)। (इसप्रकार ईक्षण करके) उसने तेज उत्पन्न किया। (तत्पश्चात्) उस (तेज अभिन्न सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत होजाऊं'=नाना प्रकारसे उत्पन्न होऊं। (इसप्रकार ईक्षण करके) उस (तेज अभिन्न सत्) ने जलकी रचना की, इसीसे जहां कहीं पुरुष शोक-संताप करताहै वहीं उसे पसीना आजाताहै। उस समय वह तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होतीहै ॥२॥

भावार्थ—अब यहां यह शंका होतीहै कि एकका अनेक होना और अखण्डका खण्डित होजाना असंगतहै। इस शंकाका समाधान

पहले खण्डकी श्रुतिसे होजाताहै। श्रुति है—"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" हे प्रिय ! जैसे मिट्टीके एक पिंडसे उसका घट आदि सभी कार्य 'मिट्टीहै' ऐसा जानलिया जाताहै, विकार यानी मिट्टीका कार्य वाणीका विलास-मात्रहै, मृत्तिका यही केवल सत्यहै। अर्थात् घट आदि कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मृत्तिका एकहै, इसीसे वह सत्यहै। और उसका नाम-रूपात्मक घट आदि कार्य, आदि तथा अन्तमें एकरूप न होनेसे असत्यहै। अतः मृत्तिका व्यवहारमें वहुरूप तथा खण्डित-सी है, किन्तु परमार्थतः एक तथा अखण्डहै। इसीप्रकार सत् ब्रह्म, जाग्रत्-स्वप्नरूपी व्यवहारसे वहुरूप या अनेक-सा है, किंतु सुषुप्ति, समाधि, मरण, महाप्रलय और कैवल्यरूपी परमार्थसे द्वैतरहित अखण्ड तथा एकहै। इस विषयको आगे विशेषतः स्पष्टकियाजायेगा। अतः एकसे अनेकसा हो जाना असंगत नहीं, ऐसा श्रुतिको इष्टहै ॥३॥

"ता आप ऐक्षन्त०" उस (जल अभिन्न सत्) ने ईक्षण किया 'हम बहुत होजाएं'=अनेकरूपसे उत्पन्नहों।.उस (जलसे अभिन्न सत्) ने अन्नकी रचना की। इसीसे जहां कहीं वर्षा होतीहै वहीं बहुत-सा अन्न होताहै। वह अन्नादि जलसे ही उत्पन्न होताहै ॥४॥ खण्ड २॥

तीसरा खण्ड

"तेषां खल्वेषां०" उन इन (पक्षी आदि) प्रसिद्ध प्राणियोंके तीन ही बीज होतेहैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज ॥१॥

"सेयं देवतैक्षत०" उस इस (जो सत् ईक्षणसे पहले निर्विशेष निर्गुण था, और ईक्षण करके सविशेष या सगुण होगया) देवताने ईक्षण किया, मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनदेवताओंमें अनुप्रवेशकरके नाम और रूपको प्रगटकरूं ॥२॥

"तासां त्रिवृतं०" और उनमेंसे एक एक देवताको त्रिवृत्त करूं (तेज आदि एक एक भूतके तीन २ भाग करूं) ऐसा विचारकर उस इस देवताने इस जीव-आत्मरूपसे (कर्त्ता भोक्तापनसे) ही उन तीन देवताओंमें अनुप्रवेशकरके नाम-रूपका व्याकरणकिया। अर्थात् नाम-रूपको प्रकटकिया ॥३॥

"तासां त्रिवृत्त°" उस (सत् नामक) देवताने उनमेंसे (तेज आदिमेंसे) प्रत्येकके तीन २ भाग किये। हे प्रिय ! जिसप्रकार ये (तेज आदि) तीनों देवता एक एक करके कैसे तीन २ भागोंमें विभक्तहैं वह मेरेद्वारा जान ॥४॥ खण्ड ३॥

चौथा खण्ड

"यदग्ने रोहितं रूपं"० इत्यादि सात श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ= लोकमें त्रिवृत्त कियेगये अग्निका, आदित्यका, चन्द्रमाका, एवं विजलीका जो लालरूपहै, वह विना तीन भाग कियेहुये तेजका रूपहै। जो सफेदरूपहै, वह अत्रिवृत्त (विना तीन भाग कियेहुए) जलका रूपहै। जो कालारूपहै, वह अत्रिवृत्त पृथ्वीका रूपहै। जो अग्नि आदि नामहै, वह वाणी पर अवलम्बित नाममात्रहै। इनमें जो तेज आदि तीनरूपहैं वे ही सत्य हैं। और भी जितने मूर्तिमान् पदार्थहैं, उनमें ये तीनों ही रूप वास्तविकहैं। हे सोम्य ! जिसप्रकार ये तीनोंदेवता शरीरको प्राप्तहोकर तीन २ होजातेहैं, वह मेरेद्वारा समझले। खण्ड ॥४॥

पांचवाँ, छठा तथा सातवाँ खण्ड

"अन्नमशितं"० इत्यादि श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ=इस पांचवें तथा छठे खण्डमें, उद्दालकने श्वेतकेतुको ऐसा उपदेश कियाहैकि अन्नसे मनकी शक्ति बढ़तीहै, जलसे प्राणकी और तेज आदि घृत पदार्थोंसे वाणीकी शक्ति बढ़तीहै। सातवें खण्डमें तो श्वेतकेतुसे पंद्रह दिनका उपवास कराकर उसे प्रत्यक्ष अनुभव करादियाहै कि वास्तवमें ही अन्नसे मनकी शक्ति बढ़तीहै ॥ खण्ड ५, ६, ७ ॥

इसप्रकार दूसरे खण्डसे लेकर सातवें खण्ड तक एक ही अद्वितीय सत् ब्रह्मसे, तेज जल अन्न या पृथ्वी इन तीनों भूतोंकी उत्पत्ति दिखाईगई, और उसकेद्वारा इन तीनोंभूतोंका त्रिवृत्त=तीन तीन भागकरके उनमें उसी सत्का जीवरूपसे प्रवेश भी कहागया। अस्तु,

यदि सातवें खण्डके अन्तमें ही "तत्त्वमसि" इस वाक्यका उपदेश कियाजाता, तो इस वाक्यका ऐसा अर्थ होसकता था कि सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले एक ही अद्वितीय सद् ब्रह्म था, फिर जिसने ईक्षण

या इच्छाकरके तेज जल प्रभृति तीनभूतोंकी उत्पत्तिकरके उनका त्रिवृत्तकरणकरके उनमें जीवरूपसे प्रवेश किया "तत्त्वमसि" तत्= तस्मै, त्वं=तू, असि=है, अर्थात् उसीकेलिये तू है। या तत्=तस्मात्, त्वं=तू, असि=है, अर्थात् उसीसे तू पैदा हुआ है। या तत्=तस्य, त्वं=तू, असि=है, अर्थात् उसीका तू है। या तत्=तस्मिन्, त्वं=तू, असि=है, अर्थात्—उसीमें तू है-ऐसा अर्थ होसकता था। ऐसा होनेपर यह प्रकरण केवल ईश्वरका गुण-कीर्तनमात्र होजाता। इसका आत्म-ज्ञानसे कुछ भी संपर्क न रहता। इसीलिये यहां उद्दालकने श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि' का उपदेश नहीं किया। अब उद्दालकजी, आठवें खण्डमें, सुपुप्ति-अवस्थामें, जाग्रत्में और मरण-अवस्थामें सत्की स्थिति बताकर 'तत्त्वमसि' का उपदेश करेंगे–जिससे श्वेतकेतुको 'मैं ही सत् हूं' ऐसा बोध होगा ॥खण्ड ७॥

आठवां खण्ड

"उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति" ॥१॥ उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा–हे सोम्य ! तू मेरेद्वारा स्वप्रान्त (सुपुप्ति) को विशेपरूपसे समझले, जिस अवस्थामें यह पुरुष "सोता" ऐसा कहाजाताहै, उस समय हे सोम्य ! यह सत् से संपन्न होजाताहै—यह अपने स्वरूपको प्राप्त होजाताहै–इसीसे इसे "स्वपिति" ऐसा कहतेहैं। क्योंकि यह स्व=अपनेको अपीत=प्राप्त होजाताहै ॥१॥

शांकर भाष्य-"न हि अन्यत्र सुपुप्तात्स्वमपीतिं जीवस्येच्छन्ति ब्रह्मविदः" =ब्रह्मवेत्ता लोग, सुपुप्तावस्थाको छोड़कर और किसी दशामें जीवकी स्वरूपप्राप्ति स्वीकार नहीं करते। इस भाष्यके अनुसार, ब्रह्मवेत्ता वे लोग हैं जो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीके अभाववाली सुपुप्तिको कैवल्यमुक्तिका अंश, दृष्टान्त या नमूना समझकर कैवल्य-प्राप्तिकेलिए यत्न कररहेहैं। परन्तु जाग्रत्-स्वप्नमें "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा चिन्तन करनेवाले वे लोग भी अभी तक मनके सहित होनेसे स्वरूपको प्राप्त नहीं हुए। वे अभी स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्यमुक्तिके पथिकही हैं।

"यत्र तु सुप्तः स्वप्नान्पश्यति" इत्यादि शांकर भाष्यका अनुवाद = किन्तु जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष स्वप्न देखताहै, वह स्वप्नदर्शन सुख-दुःखसे युक्त होताहै। इसलिये वह पुण्य–पापका कार्यहै, क्योंकि पुण्य–पापको ही क्रमशः सुख-दुःखकी आरम्भकता प्रसिद्धहै। किन्तु पुण्य-पापको जो सुख–दुःख और उसके दर्शनरूप कार्यकी आरम्भकताहै, वह अविद्या और कामनाके आश्रयसे ही संभवहै, और किसी प्रकारसे नहीं। इसलिये स्वप्न, संसारके हेतुभूत, अविद्या, कामना और कर्म इनसे युक्त ही है। अतः उस अवस्थामें जीव अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता। जैसाकि (उस अवस्थामें) वह पुण्यसे असंबद्ध, पापसे असंबद्ध तथा हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार किये होताहै, "इसका वह यह रूप अतिच्छन्दा (काम, धर्माधर्म और अविद्यासे रहित) है"

इसप्रकार भाष्यने सुषुप्तिमें अविद्या, काम और कर्मका अभाव बतायाहै। स्मरण रहे कि सत् चित् आत्मामें जीवपनकी उपाधि अविद्या नहीं और नाही विद्या ही है। किन्तु अव्यक्त कारणशरीर या आनन्दमय-कोश उपाधिहै। अव्यक्तका ही कुछ स्थूलपरिणाम बुद्धि अथवा मनहै। बुद्धि या मनका जो "मैं अकर्त्ता अभोक्ता और असंग हूं" ऐसा परिणाम या वृत्तिहै यह विद्याहै, इसीका साथी आत्मा विद्वान् कहाजाताहै। मनका जो "मैं कर्ता भोक्ता हूं" ऐसा परिणामहै यह अविद्याहै, इसीका साथी चैतन्य आत्मा अविद्वान् कहलाताहै। "मैं इस कार्यकेद्वारा ऐसा सुख-लाभ करूंगा" ऐसी अभिलाषाका नाम कामनाहै, फलकी प्राप्तिके-लिये जो कार्य करनाहै वह कर्महै, ऐसे अविद्या, काम और कर्म सुषुप्तिमें नहींहैं। शां० भा० "जीवात्मना मनसि प्रविष्टा नामरूप व्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवात्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मन आख्यां हित्वा" नाम–रूपको प्रकट करनेकेलिये जीवरूपसे मनमें प्रविष्ठ हुआ परमात्मा वह मन नामक जीवरूपको त्यागकर अपने स्वरूपको प्राप्तहोजाताहै। इस भाष्यने मनको ही जीव मानाहै। वास्तवमें देखा जाये तो परिणामी स्वभाववाला मन ही जीवहै। शां० भाष्य "मनसि प्रविष्टं मन-आदि संसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यमपीतो = अपिगतो भवति" = मनमें प्रविष्ट हुआ परमात्मा मन आदिके सम्बन्धसे कियेहुए

जीवरूपको त्यागकर अपना जो परमार्थ सत्य सद्रूपहै उसे प्राप्तहो-जाताहै। इसप्रकार भाष्यने सुषुप्तिमें जीवको अपने पारमार्थिक सत्य सद्रूपकी प्राप्ति बताईहै। जिसकेलिये किसी भी प्रकारकी लक्षणा-वृत्तिकेलिये अवकाश नहींहै।

ब्रह्मसूत्र अ० ३ पाद २ सूत्र ७ "तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च।" शां० भा० "सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम्०" इत्यादिका अनुवाद= सत्की और प्राज्ञकी ब्रह्मता प्रसिद्ध ही है। इसप्रकार इन श्रुतियोंमें तीनों ही सुषुप्ति स्थान कहेगयेहैं, नाड़ियां, पुरीतत और ब्रह्म। उनमें भी नाड़ियां और पुरीतत द्वारमात्रहैं, किन्तु ब्रह्म ही एक सुषुप्ति-स्थान है। दूसरी बात यह है कि नाड़ियां और पुरीतत जीवकी उपाधिका ही आधारहै। क्योंकि वहां जीवके करण विद्यमानहैं। उपाधिके संवन्ध विना स्वाभाविक ही जीवका कोई आश्रय संभव नहीं, ब्रह्मसे अभिन्न अपनी महिमामें स्थित होनेकेकारण। सुषुप्तिमें जीवका ब्रह्ममें आधार-पन भी आधार-आधेयभावसे नहींहै।

प्रश्न—तो कैसेहै? उत्तर—अभिन्नरूपके अभिप्रायसे, क्योंकि ऐसा कहाहै—हे सोम्य! सुषुप्तिमें सत्रूपसे सम्पन्न होताहै। 'स्व' शब्दसे अपना आत्मा कहाहै, तात्पर्य यह कि स्वरूपको प्राप्तहुआ सुप्त कहलाताहै।

इसप्रकार ब्रह्मवेत्ता व्यासजीने भी सुषुप्तिमें जीवको स्वस्वरूप =सद्स्वरूपकी प्राप्ति "सता सोम्य तदा" श्रुतिके आधार पर बताईहै।

पूर्वपक्ष—परमात्मा, सत् चित् आनन्दरूपहै। जीवात्मा सत् चित्रूपहै। यह सुषुप्तिमें उसके समीप होजाताहै। "सता सोम्य" श्रुतिका ऐसा अर्थ मानकर दो चैतन्य माननेचाहिये।

उत्तरपक्ष या सिद्धांत—ऐसा मानना श्रुतियोंके विरुद्ध तथा अनुभवके भी विपरीतहै। १—श्रुतियोंके विरुद्ध—(वृ० अ० ३ ब्रा० ७ श्रुति २३) "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा०" इत्यादि श्रुतिसे, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता विज्ञाता और अन्तर्यामी एक ही चैतन्यहै, दो नहींहैं।

(वृ० अ० ४ ब्रा० ३) "जनकं ह वैदेहं०" इत्यादि श्रुतियोंसे, जाग्रत् अवस्थामें आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि और वाणी ये चार ज्योतियां बाहर-

की हैं—जिनसे प्रकाश पाकर प्राणी कहीं जाताहै और कहींसे आताहै, इत्यादि व्यवहार करताहै। "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" स्वप्न-अवस्थामें पुरुष स्वयंज्योति या अपने प्रकाशसे ही सब काम करताहै। इससे भी सिद्ध होताहै कि शरीरमें चैतन्य आत्मा एक ही है, दो चैतन्य नहींहैं।

२—अनुभवके भी विपरीत है-(क) यदि सुषुप्तिमें जीवात्मा, ईश्वरके समीप होजाताहै तो अग्निकी सन्निधिमें लोहेके उष्ण प्रकाशके समान इसमें ईश्वरके सर्वज्ञता आदि धर्म आजानेचाहियें। परन्तु उस अवस्थामें तो जीवमें अल्पज्ञान और अल्पशक्ति भी नहीं रहती। अतः उक्त मान्यता अनुभवके सर्वथा ही विपरीतहै।

(ख) यदि ईश्वरभक्तको ही सुषुप्ति प्राप्त होती तब ऐसी मान्यता होसकती थी, परन्तु सुषुप्ति अवस्था तो पशु, पक्षी, आस्तिक और नास्तिकोंकी समान ही है. अतः सुषुप्तिमें जीवको ईश्वरकी समीपताका कोई प्रसंग प्राप्त नहीं होसकता।

(ग) जिस समय भी जिस किसी जीवको भय प्राप्त होताहै तब बाहरकी ही वस्तुसे भय पहुंचताहै, अन्दरसे नहीं। अतः शरीरमें एक चैतन्यके सिवा दूसरा कोई चैतन्य नहींहै।

स्मरण रहे कि द्वैतवादी ईश्वरके भक्त लोग, एक शरीरमें जीव और ईश्वर नामके दो चैतन्य मानतेहैं। परन्तु अद्वैतवादी लोग, शरीर-में एक ही चैतन्य स्वीकार करतेहैं।

शंका—यदि "सता सोम्य" श्रुतिके अनुसार, सुषुप्तिमें जीवात्माको शुद्धब्रह्म मानलेंगे तो इस श्रुतिका अन्य सभी श्रुतियोंसे विरोध होगा-जो सुषुप्तिको शुद्ध आत्माके तीसरे पाद प्राज्ञ नामक जीवका कारण-शरीर या आनन्दमयकोश बतारहीहैं।

समाधान—पंचदशी योगानन्द प्रकरण—

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिंबति।
अनुभूयंनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥४४॥

आत्माके सम्मुख हुई बुद्धिवृत्तिमें आत्माका प्रतिविम्ब पड़ताहै, इस अवस्थामें जीव, विषयानन्दका अनुभवकरके अनुभविता, अनुभव

और अनुभाव्यरूप त्रिपुटीसे श्रमको प्राप्तहोजाताहै ।४४।

स्मरण रहे कि यह सुषुप्तिकी आदि या आरम्भ अवस्थाहै, यही कारणशरीर या आनन्दमयकोशहै । इसीका अभिमानी आत्मा प्राज्ञ कहलाताहै ।

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

उस त्रिपुटीरूपी श्रमकी निवृत्तिकेलिये जीव परमात्माकी ओर दौड़ताहै—उससे एकताको प्राप्तहोकर स्वयं ब्रह्मानन्द होजाताहै ।४५।

स्मरण रहे कि यह सुषुप्तिकी मध्य या गाढ़ अवस्थाहै, यह सच्चिदानन्द आत्माकी तुरीय या शुद्ध अवस्थाहै, कोई भी विद्वान् जबतक, यह सुषुप्तिकी आदि अवस्था है, यह मध्यहै और यह अन्तहै, इसप्रकार सुषुप्तिका विभाग नहीं कर लेगा, तबतक वह "सता सोम्य" इस श्रुतिके आधार पर बनायेगये इन श्लोकोंका अर्थ सर्वथा ही नहीं लगासकेगा । अतः सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थाएं आत्माका कारणशरीरहै और मध्य अवस्था या गाढ़ अवस्था शुद्धहै । जो श्रुतियां सुषुप्तिको आत्माका कारणशरीर बता रही हैं, वे उसकी आदि और अन्त अवस्थाओंको लेकर ऐसा कथन करतीहैं । और जो श्रुतियां सुषुप्तिमें आत्माको शुद्ध बतारहीहैं वे उसकी मध्य अवस्थाको लेकर एकता कथन करतीहैं । इसप्रकार श्रुतियोंका परस्पर विरोध नहींहै ।

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तो ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

(आत्मा) प्राज्ञ नामक जीवपनके निवृत्त होजानेपर सुषुप्तिमें ब्रह्म ही है, जीव नहीं । क्योंकि यहां आत्मामें संसारीपन नहीं देखा-जाता ॥५६॥ (बृ० उप० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति २२) "अत्र पिता अपिता भवति" इसके आधार पर बना हुआ यह श्लोक भी सुषुप्तिकी मध्य अवस्थामें जीवको 'ब्रह्म ही है' ऐसा बतारहाहै ।

त्रयाभावे तु निर्द्वंतः पूर्णं एवाभिधीयते ।
समाधि-सुप्ति-मूर्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

जिसप्रकार (आत्मा) समाधि, सुषुप्ति और मूर्छा अवस्थामें

त्रिपुटीके अभाव होनेपर द्वैतरहित और पूर्णहै—उसीप्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिसे प्रथम यह द्वैतसे रहित पूर्ण था ॥१६॥ छांदोग्य अ० ६ खण्ड २ "सदेव" इस श्रुतिके आधार पर बनायागया उक्त श्लोक भी सुषुप्ति की और महाप्रलयकी मध्य अवस्थामें जीवको पूर्णब्रह्म बतारहाहै। अतः श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं है।

अन्य आशंका—सोकर जगा हुआ मनुष्य "सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्"=मैं सुखसे सोया, मैंने कुछ नहीं जाना—ऐसा स्मरण करताहै। कारण कि उसने सुषुप्तिमें अज्ञानका अनुभव कियाहै, इसीसे 'वह कुछ नहीं जाना' ऐसा स्मरण करताहै। जबकि सुषुप्तिमें अज्ञान रहताहै, तब फिर अज्ञानविशिष्ट आत्मा शुद्ध नहीं मानाजासकता।

समाधान—१. यदि 'कुछ न जानना' ही अज्ञानका लक्षण कहेंगे तब तो ईंट—पत्थर—विशिष्ट सत् चित् आनन्द या अस्ति-भाति-प्रिय आत्माको भी अज्ञानी माननां चाहिये। क्योंकि वहांका आत्मा भी सुषुप्तिके आत्माके समान कुछ नहीं जानता, परन्तु उसे तो कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नहीं मानता। अतः 'कुछ न जानना' अज्ञानका लक्षण नहीं होसकता।

२—(ब्रह्म० अ० ४ पाद० ४ सूत्र १६) "स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि". श्रुतियोंमें ज्ञाता—ज्ञान—ज्ञेय त्रिपुटीरूप विशेषज्ञानका अभाव कहीं पर "स्वाप्यय" सुषुप्तिको लेकर कहागयाहै और कहीं पर "संपत्ति" कैवल्यको लेकर कहागयाहै। ज्ञाता नाम जानने वालेका है, ज्ञान नाम जाननेका साधन जो वृत्तिहै उसकाहै, और ज्ञेय नाम जानने-योग्य वस्तुका है। यही विशेषज्ञानहै। यह सुषुप्तिमें और कैवल्यमुक्ति-में नहीं रहता।

३—यदि 'कुछ न जानने' को ही अज्ञान मानेंगे तब तो जबतक ज्ञानी मनुष्य जीता रहताहै तबतक उसे सुषुप्ति अवश्य आतीहै, अतः वह जाग्रत-स्वप्नमें ज्ञानी और सुषुप्तिमें अज्ञानी बना रहेगा और कैव-ल्यमें भी 'कुछ न जानना' रूप अज्ञानके सहित होनेसे वहां भी अज्ञानी ही होगा। परन्तु कैवल्यमें आत्माको कोई भी अज्ञानी नहीं मानता। ऐसेही सुषुप्तिमें भी आत्मा अज्ञानके सहित नहींहै। अतः 'कुछ न

जानना' अज्ञान नहीं कहलासकता। किन्तु बुद्धिके सहित ही आत्माकी ज्ञानी अज्ञानी संज्ञा होतीहै। यदि बुद्धिके होते हुए ही कोई व्यक्ति, किसी वस्तुको नहीं जानता तब अज्ञानी और यदि वह उस वस्तुको जानताहै तब ज्ञानी कहाजाताहै। इसीसे आचार्यों ने अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान, शोकनाश और हर्ष की प्राप्ति—ये सात अवस्थाएं बुद्धिके सहित चैतन्यके आभासकी या केवल बुद्धिकी मानीहैं।

१—अज्ञान=मैं ब्रह्म नहीं, २—आवरण=मुझे अपनी ब्रह्मता भान नहीं होती, ३—विक्षेप=मैं कर्ता भोक्ता जीव हूं, ४—परोक्षज्ञान=वेद तो कहताहै कि जीव ब्रह्म ही है, ऐसा जानना, ५—अपरोक्षज्ञान=सद्गुरुकी कृपासे मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान होजाना, ६—शोकनाश=अब मुझे कुछ कर्तव्य नहीं, ७—हर्षकी प्राप्ति=मैं कृतकृत्य या कृतार्थ हुआ हूं। ये सात अवस्थाएं परिणामशीला बुद्धिकी हैं, चैतन्य आत्माकी नहींहैं। इससे यह स्पष्ट होगया कि सुषुप्तिमें बुद्धिके अभावसे न तो आत्मा अज्ञानके सहितहै और न ज्ञानके ही, किन्तु अपने शुद्ध सद्रूप से ही स्थित होताहै।

(बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ९) "तस्य वा एतस्य" इत्यादि श्रुति पर शांकर भाष्य—"नैव दोषः विषयभूतमेव"=यह कोई दोष नहीं। क्योंकि वह मात्रा (विषयके ज्ञान सहित बुद्धि) तो विषयभूता ही होतीहै, इसीलिये यहां यह पुरुष (आत्मा) "स्वयंज्योति" स्वरूपसे दिखाया जासकताहै। नहीं तो सुषुप्तावस्थाके समान जबकि कोई भी विषय नहीं रहता, इस "स्वयंज्योति" का दर्शन नहीं कराया जासकता। इस भाष्यने स्पष्ट करदियाहै कि सुषुप्ति अवस्थामें अज्ञान आदि किसी भी विषयके न रहनेसे आत्मा "स्वयं ज्योति" नहीं होसकता। अतः सुषुप्तिमें अज्ञान नामकी कोई वस्तु नहींहै।

शंका—यदि सुषुप्तिमें अज्ञान नहीं रहता तो आचार्योंने उसको वहां सिद्ध करनेकेलिए "मैं सुखसे सोया, मैंने कुछ नहीं जाना" ऐसी युक्ति किसलिए दीहै?

समाधान—यह युक्ति केवल शून्यवादके खण्डनार्थ दीगईहै कि

अज्ञान या शून्यका साक्षी आत्मा वहां स्थितहै। परन्तु यह युक्ति, श्रुतिसम्मत नहीं। जैसाकि (बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ३०) "यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञाते-र्विपरिलोपो विद्यते ऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्"=वह जो नहीं जानता सो जानता हुआ ही नहीं जानता, विज्ञाताकी विज्ञाति (विज्ञानशक्ति) का लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशीहै, उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नही, जिसे वह विशेषरूपसे जाने। ३०।

शंका—श्रुति कहतीहै कि वहां द्वैत या दूसरा नहीं। परन्तु जबकि वहां आत्माके साथ प्राण, स्थूलशरीर, पलंग, भूमि और आकाश आदि अन्यान्य वस्तुएं भी विद्यमानहैं तो फिर "वहां दूसरा नहीं" ऐसा कहना असंगतहै।

समाधान—श्रुति यहां द्वैत शब्दसे मनको ग्रहण करतीहै। क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मामें विशेषज्ञानका कारण मन ही है, वह सुषुप्तिमें नहीं। अत: आत्मा, ज्ञानस्वरूप होनेपर भी मनके अभावमें जानता हुआ भी नहीं जानता-ऐसा श्रुतिको अभीष्टहै। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तब तो कैवल्यमें भी मुक्तात्माके साथ आकाश आदि पांच भूतोंका संवन्ध बना ही रहताहै। अतः कैवल्यमें भी आत्माको द्वैतविशिष्ट ही मानना होगा। परन्तु वह वहां जैसे आकाश आदि भूतोंके सहित होनेपर भी केवल मन या बुद्धिके अभावसे शुद्धब्रह्म मानागयाहै। ऐसे ही सुषुप्तिमें भी वह प्राण आदिके सहित होनेपर भी केवल मनके अभावमें शुद्धब्रह्म ही है।

(बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ३२) "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति-एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमागतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः एतस्यैवानन्दस्य-अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"=जैसे जलमें वैसे ही सुषुप्तिमें एक अद्वैत द्रष्टा है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है—ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया। यह इस (पुरुष) की परम गतिहै, यह इसकी परम सम्पत्तिहै, यह इसका परम लोक है, यह इसका परमानन्दहै। इस आनन्दकी

मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवनधारण करतेहैं ॥३२॥

इस श्रुतिका अर्थ शांकर भाष्यके अनुसार ऐसा है—जैसे स्वच्छ जलमें छोड़ा हुआ स्वच्छ जल एक होजाताहै। वैसे ही सुषुप्तिमें मन-सहित आभास, चैतन्य आत्मामें लीन होजानेसे आत्मा, शुद्ध तथा एक होताहै। क्योंकि वहां आत्माकी दृक्शक्तिका लोप नहीं होता, अतः वह द्रष्टाहै। कारणकि वहां द्रष्टव्य वस्तुका अभावहै, इसीसे वह अद्वैत होताहै। यही ब्रह्मलोकहै यानी आत्माकी ब्रह्म-अवस्थाहै, ऐसा राजा जनकसे याज्ञवल्क्यने कहा-यही आत्माकी परमगतिहै या सबसे परे की गतिहै। क्योंकि जाग्रत् स्वप्नमें मनके सम्बन्धसे होनेवाली जितनी भी हिरण्यगर्भ तक गतियां हैं वे इससे तुच्छहैं। अतः यह परमगतिहै। आत्माकी यही अवस्था परम संपदाहै या सबसे बड़ी सम्पत्तिहै, क्योंकि जाग्रत् स्वप्नमें मनके सम्बन्धसे होनेवाली जितनी भी सम्पत्तियां हैं वे अपरम या छोटीहैं, अतः यह परमाहै। आत्माकी मनके सम्बन्धसे रहित यही=सुषुप्ति-अवस्था ही परमलोकहै। क्योंकि मनके सम्बन्धसे होनेवाले ब्रह्मलोक तक जितने भी लोकहैं, वे अपरम या इससे इसी ओरके हैं। अतः आत्माका यही परमलोकहै। आत्माका सुषुप्तस्थान ही परम आनन्दहै, या सबसे उत्कृष्ट आनन्दहै, ब्रह्मा-पर्यन्त जितने भी प्राणधारीहैं, वे इसी परमानन्दके अंशको लेकर आनन्दवाले होतेहैं। तात्पर्य यह है कि ज्यों-ज्यों मन अन्तर्मुख होता जाताहै, इसमें आनन्द-की मात्रा अधिक होनेलगतीहै, और ज्यों-ज्यों यह बहिर्मुख होता जाताहै, त्यों-त्यों इसमें आनन्दकी मात्रा कम होनेलगतीहै। परन्तु मनकी जो अत्यन्त लीन अवस्थाहै, वहां आत्मा परमानन्दरूप होताहै।

स्मरण रहे कि मनसे रहित आत्माकी ऐसी निर्गुण, निर्विकार और निर्विकल्प अवस्थाको कोई शून्य और कोई जड़ मानताहै। परन्तु उक्त श्रुति तो उस अवस्थामें आत्माको परमानन्दरूप मानरहीहै। "यद्वै तन्न विजानाति" यह श्रुति सुषुप्तिमें आत्माका चित्रूप स्पष्ट करतीहै। "सता सोम्य,, श्रुतिने सुषुप्तिमें आत्माकी सत्रूपसे स्थिति बताई है ॥१॥

इसमें दृष्टांतके लिए अब दूसरी श्रुतिको पढ़ना चाहिए। "यथा

शकुनिः सूत्रेण०" जिसप्रकार डोरीसे बधा हुआ पक्षी दस दिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेपर अपने बन्धन-स्थानका ही आश्रय लेताहै, उसीप्रकार निश्चय ही सोम्य ! यह मन (जाग्रत् स्वप्नरूपी) दिशा-विदिशाओंमें भ्रमणकर अन्यत्र स्थान न मिलनेपर प्राणका ही आश्रय लेताहै । क्योंकि सोम्य ! मन प्राणरूप बन्धनवालाहै, अर्थात् इसका सत् ही आश्रयहै ॥२॥

आगेकी श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ=सोम्य ! तू मेरेद्वारा भूख और प्यासको जान । जिस समय यह पुरुष कुछ खाताहै उस समय जल ही इसके भक्षण कियेहुए अन्नको लेजाताहै । हे सोम्य ! उस जलसे ही शरीरको उत्पन्न हुआ जान । क्योंकि यह विना कारणके नहीं होता । अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहां होसकताहै ? इसीप्रकार सोम्य ! तू अन्नरूप अंकुरकेद्वारा जलरूप मूलको खोज । हे सोम्य ! जलरूप अंकुरद्वारा तेजोरूप मूलको जान । तथा तेजोरूप अंकुरकेद्वारा सद्रूप मूलका अनुसंधान कर । सोम्य ! इसप्रकार यह उक्त सभी प्रजाएँ सत्-मूलकहैं, तथा इनका सत् ही आश्रयहै, और सत् ही प्रतिष्ठा=लय-स्थानहै ॥३।४॥ जिस समय यह पुरुष पीताहै तो इसके पानकियेहुए जलको तेज ही लेजाताहै । हे सोम्य ! उस जलरूप मूलसे यह शरीररूप अंकुर उत्पन्न होताहै—ऐसा जान । क्योंकि यह मूलरहित नहीं होसकता ॥५॥ सोम्य ! उस शरीरका जलके विना और मूल नहीं । जलरूप अंकुरद्वारा तू तेजोरूप मूलको जान । और तेजोरूप अंकुरद्वारा सद्रूप मूलकी शोध कर । हे सोम्य ! इस सम्पूर्ण प्रजाका सत् ही कारण है, तथा सत् ही स्थिति-स्थानहै और सत् ही लय-स्थानहै । सोम्य ! पृथ्वी, जल और तेज इन तीनों भूतोंका त्रिवृत्तकरण पहले ही कहाजाचुकाहै । हे सोम्य ! मरणको प्राप्त होतेहुए इस पुरुषकी वाणी मनमें लीन हो-जातीहै तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो-जाताहै ॥६॥

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच" ॥७॥ वह जो यह अणिमाहै, इसीका रूप यह सबहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै और हे

श्वेतकेतो ! वही तू है । श्वेतकेतुने कहा मुझे फिर समझाइए । आरुणिने कहा अच्छा । सोम्य ॥खण्ड ८॥

भावार्थ—इस आठवें खण्डमें सत्‌की सुषुप्ति, जाग्रत् और मरण-ये तीन अवस्थाएँ दिखाई गईहैं । आगेके सभी खण्डोंमें इन्हीं तीन अवस्थाओंका दृष्टात-पूर्वक विस्तृत वर्णन कियागयाहै । "तत्त्वमसि" यह वाक्य इन्हीं तीन अवस्थाओंसे संबन्ध रखताहै । अतः इन्हीं अवस्थाओंके अनुसार इस वाक्यका अर्थ करना ठीकहै । परन्तु इस खण्डमें सत् की सुषुप्ति, जाग्रत् और मरण-ये तीन अवस्थाएँ दिखाकर "तत्त्वमसि" वाक्यका साधारणतः उपदेश कियागयाहै । अब श्वेतकेतु इन अवस्थाओंको विशेषरूपसे जानना चाहता है और इनसे सम्बन्ध रखनेवाले "तत्त्वमसि" वाक्यको भी । पहले सुषुप्ति अवस्थाको लेकर उसे सन्देह हुआहै—यदि सुषुप्तिमें पुरुष "सता" सद्‌रूप होजाताहै तो यह वहां जानता क्यों नहीं कि मैं सद्‌रूप होगयाहूं ? ऐसी शंकासे श्वेतकेतु कहताहै—मुझे फिर समझाइए । उद्दालकने कहा—हे सोम्य ! अच्छी बातहै ॥खण्ड ८॥

नवां खण्ड

"यथा सोम्य मधु०" इत्यादि चार श्रुतियोंका संक्षेपमें अनुवाद—हे सोम्य ! जैसे नाना वृक्षोंके रस, मधुरूप होकर अपने २ पहलेके नामोंको और रूपोंको भूल जातेहैं, ऐसेही यह सम्पूर्ण बाघ, सिंह आदि प्रजागण सुषुप्तिमें सद्‌रूपहोकर यह नहीं जानते कि हम सद्‌रूप होगयेहैं । वे इस लोकमें बाघ, सिंह, भेड़िया, सूकर, कीट पतङ्ग, डांस, अथवा मच्छर जो जो भी सुषुप्ति अवस्थाके पहले होतेहैं, वे ही पुनः जाग्रत्‌में होजातेहैं । वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सबहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै और हे श्वेतकेतो 'वही तू है' । श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए । आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड ९॥

भावार्थ—शहद बनानेवाली मक्खियोंने अनेक वृक्षोंका रस लाकर इकठ्ठा करदिया और वह शहद होगया । परन्तु इस अवस्थामें वे रस, शहदमें न तो विशेषण-विशेष्य-भावसे रहतेहैं और न वे व्याप्य-

व्यापक-भावसे, और न वे आधार-आधेय भावसे रहतेहैं। केवल एक शहद ही उनका रूपहै। अतः वे वहां यह नहीं जानते कि हम शहदरूप होगयेहैं। उसीप्रकार बाघ, सिंह आदि सभी जीव, सुषुप्तिके सत्में, मनके लीन होजानेपर, न तो वे वहां विशेषण-विशेष्य भावसे रहतेहैं और न व्याप्य-व्यापक भावसे तथा ना हीं आधार-आधेय भावसे रहते हैं। उनका केवल निर्द्वंत एक सद्रूप ही रूपहै। अतः वे वहां ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूपी विशेषज्ञानका अभाव होनेसे यह नहीं जानते कि हम सद्रूप होगयेहैं। सुषुप्तिसे उठकर ही जानतेहैं कि मैं बाघ हूं अथवा सिंह हूं, इत्यादि। "स य एषोऽणिमा" इत्यादि चौथी श्रुतिका भावार्थ=सुषुप्तिमें मनसे रहित जो अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, शुद्ध, सत् था, वह सुषुप्तिके अन्तमें मनके सहित होकर जाग्रत्में 'मैं' नाम-वाला कर्ता भोक्ता जीव होगया, इसीका रूप यह सब तेज, जल पृथ्वी और इनसे बना हुआ शरीररूपी कार्यहै, परन्तु सुषुप्तिका अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, निराकार सत् ही सत्यहै, वह अपनास्वरूपहै, हे श्वेतकेतो ! वह तू है। अर्थात् "तू मनकी लीन अवस्थामें 'वह' निर्वि-कार, निराकार शुद्ध सद् ब्रह्महै। सुषुप्ति अवस्थाको लेकर 'तत्त्वमसि'

अथवा—

'तत् त्वं असि' का 'त्वं तत् असि' इसप्रकार पदोंको उलटाकर अर्थ करना ठीकहै। अर्थात् 'वह तू है' इसकी जगह 'तू वह है' ऐसा पाठ बदलकर अर्थ करना योग्यहै। क्योंकि सुषुप्तिमें त्वं नामक जीव, तत् होजाताहै यानी 'तू' से 'वह' होजाताहै।

(१) जैसे नामरूपात्मक घटके सहित मृत्तिकारूपी 'त्वं' का 'वह' रूप, शुद्धमृत्तिका होगी, (२) जैसे नामरूपात्मक कंगनके सहित स्वर्णरूपी 'त्वं' का 'वह' रूप शुद्धस्वर्ण होगा और (३) जैसे लोहेके बने हुए किसी बासनके सहित लोहरूपी 'त्वं' का 'वह' रूप शुद्धलोहा होगा। अर्थात् घड़ेको तू वह है' ऐसा कहेंगे तो घड़ेका 'वह' रूप शुद्ध मिट्टी है, कंगनको 'तू वह है' ऐसा कहेंगे तो उसका 'वह' रूप केवल सोना होगा। और चिमटेको 'तू वह है' ऐसा कहेंगे तो उसका 'वह' रूप शुद्धलोहा ही तो है। इसीप्रकार जाग्रत्में मनके सहित सत्रूपी

त्वंका सुषुप्तिमें मनसे रहित तत्-रूप केवल शुद्धसच्चिदानन्दहै । अर्थात् मनके सहित सच्चिदानन्दको 'तू वह है' ऐसा उपदेश होनेसे उसका 'वह' रूप शुद्धसच्चिदानन्दहै। तात्पर्य यह है कि मनसे रहित अवस्थामें 'तू' निर्गुण निर्विकार निश्चल शुद्धब्रह्महै। इसप्रकार सुषुप्ति अवस्थाको लेकर 'तत् त्वं असि' यानी 'वह तू है' इसके स्थानमें 'त्वं तत् असि' यानी 'तू वह है' ऐसा अर्थ कियागयाहै ।

अब श्वेतकेतु यह जानना चाहताहै कि यदि कोई जीव, सुषुप्तिमें अपनी सद्रूपसे स्थिति नहीं जानता तो जागकर जानना चाहिए कि 'मैं सत् से आयाहूं' । इसीसे उसने कहा कि मुझे फिर समझाइए। उद्दालकने कहा—हे सोम्य ! अच्छा ।।खण्ड ९।।

दसवां खण्ड

"इमाः सोम्य नद्यः" इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अनुवाद= हे सोम्य ! जैसे नदियां समुद्रसे उत्पन्न होकर फिर समुद्रमें मिल जातीहैं । वे सब समुद्रमें यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूं' और 'यह मैं हूं' । ऐसेही ये सब बाघ, सिंह आदि प्रजाएँ सत्से आने पर यह नहीं जानतीं कि हम सत्से आईहैं। वे इस लोकमें बाघ, सिंह आदि जो भी सुषप्तिसे पहले होतेहैं वे ही फिर जाग्रत्में होजातेहैं । वह जो यह अणिमा है, इसीका रूप यह सबहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै, हे श्वेतकेतो ! 'वही तू है' । श्वेतकेतुने कहा–मुझे फिर समझाइए । आरुणिने कहा-सोम्य ! अच्छा ।। खण्ड १०।।

भावार्थ—समुद्रके अंशरूप कुछ जलने बादलोंद्वारा बरसाया जानेसे गंगा आदि नामों तथा उनके सफेद आदि रूपोंको धारण करलिया, परन्तु वे गंगा आदि नदियां इससे पहले, समुद्रमें किसी प्रकारकी विशेषतावाली नहीं थीं। केवल निर्विशेष निर्द्वैत एक समुद्र ही थीं। अतः इन्हें वहां अपनी स्थितिका कुछ भी अनुभव नहीं था । इसीसे वे वहांसे आकर यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रमेंसे आईहैं । उसीप्रकार सुषुप्तिका जो सत्-रूपी समुद्रहै उसके अंशरूप कुछ सत्ने सुषुप्तिके अन्तमें और स्वप्नसे पहले मनोंके सहित होकर प्राज्ञ, तैजस और विश्व सञ्ज्ञक देव, दानव, मानव, सिंह, बाघ आदि नामोंको तथा सफेद, गोरे,

काले आदि रूपोंको जाग्रत्‌में ग्रहण करलिया। परन्तु सुषुप्तिमें ये केवल निर्विशेष निर्द्वैत एक सत्-मात्र रूपमें थे। जाग्रत्‌में जो पिताहै वह सुषुप्तिमें पिता नहीं रहता, माता, माता नहीं रहती, ज्ञानी, ज्ञानी नहीं रहता, अज्ञानी, अज्ञानी नहीं रहता, साधु, साधु नहीं रहता। वहां वेद, अवेद होजातेहैं, वहां लोक, अलोक होजातेहैं, अर्थात् जाग्रत्‌में जो चाण्डाल और महापापी भी हैं वे भी वहां चाण्डाल आदि नहीं रहते। 'मैं ब्राह्मण आदि हूं' ऐसी अविद्या, 'मैं उस भोगको प्राप्त करूंगा' ऐसा काम और 'मैं उसकी प्राप्तिकेलिए यह कर्म करताहूं'—ऐसा कर्म, ये अविद्या, काम और कर्म सुषुप्तिमें नहीं रहते। वहां प्रपंचका उपशम होगयाहै। वहांका सत् वाणीका विषय न होनेसे अव्यपदेश्य या अकथनीयहै। मन के गोचर न होनेसे वह अचिन्त्यहै। इसीसे वहांके सत्‌का किसीको अनुभव नहीं होता। इसीसे ये यह नहीं जानते कि हम सत् से आयेहैं। सुषुप्तिके पहले यानी जाग्रत्‌में जो जो भी इनका वाघ आदि नाम होताहै और जैसी जैसी भी इन जीवोंकी धारणा होतीहै, सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रत्–अवस्थामें इनका वही वही वाघ आदि नाम होजाताहै और वही वही धारणा होजातीहै। मनुष्योंमेंसे कोई कहताहै कि मैं अज्ञानी हुं, और कोई ब्रह्मज्ञानी, कोई अपनेको बद्ध तो कोई अपनेको मुक्त मानने लगताहै। अर्थात् ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम, और भी शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, जो भी प्रपंचहै वह सारा जाग्रत्‌में ही है, सुषुप्तिमें नहींहै।

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि तीसरी श्रुतिका भावार्थ=गाढ़ नींदमें जो उपाधिरहित अकथनीय सत् था वह उसके अन्तमें मनके सहित जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त होकर 'मैं' नामवाला जीव होगया। इसीका रूप यह सब तेज, जल, पृथ्वी और इनसे बना हुआ शरीररूपी कार्यहै, परन्तु मनसे रहित ही सत् सत्यहै, वही अपनास्वरूपहै, हे श्वेतकेतो! वही तू है। इस वाक्यको भी ' तू वह है" ऐसा बदलकर अर्थ करना चाहिए। क्योंकि यह जीव, गाढ़ नींदमें 'तू' से 'वह' होजाताहै। यदि किसी अन्यको समझाना हो तब तो 'तू वह है' ऐसा इस वाक्यका अर्थ होगा। यदि अपनेको समझानाहै तब 'मैं वही हूं' इस

वाक्यका ऐसा अर्थ करना उचितहै। क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था, प्राण-धारी मात्रकी है, किसी एक मुख्य व्यक्ति की नहींहै।

सुषुप्तिमें आत्माकी शुद्धरूपमें स्थिति-

(बृ० अ० २ ब्रा० १ श्रुति १७) "स होवाचाजातशत्रुः" इस परके शांकर भाष्यका अनुवाद -"य एषोऽन्तर्मध्ये"=यह जो हृदयान्तर्गत=हृदयके मध्यमें आकाशहै, जो आकाशशब्दसे अपना परम आत्मा ही कहागयाहै, उस स्वाभाविक असांसारिक स्वात्माकाशमें ही शयन करताहै। "हे सोम्य! उस समय यह सत्को ही प्राप्त होजाताहै" इस अन्य श्रुतिके प्रामाण्यसे केवल भूताकाशमें ही शयन नहीं करता। तात्पर्य यह है कि लिंगोपाधिके संबन्धसे होनेवाले अपने विशेषरूपको त्यागकर स्वाभाविक अविशेष शुद्ध आत्मामें ही विद्यमान रहताहै।

सुषुप्तिकी विशेषता

१—कैवल्यको प्राप्त हुआ कोई भी जीव वहांसे लौटता नहीं, अतः वह वहां अपनी जो सद्रूपसे स्थितिहै, उसका वर्णन नहीं कर-सकता।

२—मरणमें तथा महाप्रलयमें अपनी जो सद्रूपसे स्थितिहै वह केवल आगम-प्रमाणजनितहै, किन्तु अनुभूत नहीं। अतः ये दोनों अवस्थाएँ भी कैवल्यमें प्रवृत्त होनेकेलिए दृष्टांत नहीं होसकतीं।

३—समाधि सबके मतमें एक जैसी नहीं, अतः यह भी कैवल्यमें प्रवृत्तिकेलिये कारण नहीं बनसकती।

४—(बृ० अ० ४ ब्रा० ३ श्रुति ३३) "स यो मनुष्याणां०" इत्यादि श्रुति पर शांकर भाष्य-'तस्मात्संप्रसादस्थानं मोक्षदृष्टांतभूतम्' =अतः सुषुप्तिस्थान ही मोक्षका दृष्टांतभूतहै। परिशेषतः उक्त भाष्यके अनुसार केवल सुषुप्ति अवस्था ही कैवल्यमें प्रवृत्त करानेकेलिए दृष्टांत बन-सकतीहै। क्योंकि सुषुप्तिमें मनके सत्में लीन होजानेसे बाघ, सिंह आदि हिंसक जीव भी बिना किसी विवेक आदि साधन-संपत्तिके सद्ब्रह्म होजातेहैं। तब फिर मैं तो मनुष्य होनेसे कर्मयोनि हूं। क्यों न मैं अपने मनको सत्में सर्वथा लीन करके संसारसे सदाकेलिए मुक्त होजाऊं। ऐसा विचार करके मनुष्य कैवल्यमें प्रवृत्त होसकताहै। अतः कैवल्य

केलिए केवल सुपुप्ति अवस्था ही दृष्टांत बनसकतीहै। इसीसे उपनिषदों-में सुपुप्तिको बहुत महत्त्व दियागयाहै।

सुपुप्तिके अनन्तर अब श्वेतकेतु जाग्रत्के सत्का स्वरूप जानना चाहताहै। क्योंकि आठवें खण्डमें उद्दालकने कहा है कि जब यह पुरुष खाता और पीताहै, तब यह शरीररूपी कार्य उत्पन्न होताहै। इस शरीररूपी कार्यका मूल अन्नहै, अन्नका मूल जल, जलका कारण तेज और तेज का मूल सत्है। इन सबका सत् ही उत्पत्ति, स्थिति तथा लय स्थानहै। ऐसा सुनकर श्वेतकेतुको यह शंका हुई कि यदि सत् का इस शरीरमें निवासहै तो शरीरनाशसे उसका नाश क्यों नहीं होजाता ? ऐसी शंकाको लेकर वह कहताहै-मुझे फिर समझाइए। यह सुनकर उद्दालक ने कहा-अच्छी बातहै। समाधान कहताहूं।

इस परका शांकर भाष्य इसप्रकार है 'दृष्टं लोके'=(श्वेतकेतु बोला) लोकमें यह देखागयाहै कि जलमें उठेहुए भंवर, तरंग, फेन एवं बुद्-बुद् आदि पुनः जलरूप होजानेपर नष्ट होजातेहैं। किन्तु जीव तो प्रतिदिन सुपुप्तावस्थामें मरण और प्रलयके समय अपने कारणभावको प्राप्तहोकर भी नष्ट नहीं होते। सो हे भगवन् ! इस बातको मुझे दृष्टांत द्वारा फिर समझाइए। तब पिताने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १०॥

ग्यारहवां खण्ड

"अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य०" इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षेपमें अनुवाद—हे सोम्य ! किसीकेद्वारा वृक्षको खण्ड खण्ड कर काट देनेपर भी वह जीवात्माके सहित हरा-भरा खड़ारहताहै, किन्तु जीवात्मासे त्यागा हुआ वह सारा ही सूख जाताहै। ऐसे ही जीवसे त्यागा गया यह शरीर ही मरताहै, किन्तु जीव नहीं मरता। वह जो यह अणिमाहै, इसीका रूप यह सबहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै. हे श्वेतकेतो ! 'वह तू है'। श्वेतकेतुने कहा, मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड ११॥

भावार्थ—व्यापक सत्में कर्ता—भोक्तारूपी जीवपनकी उपाधि मनहै। यह मनुष्य—योनिमें शुभाशुभ कर्मकरके उसका फल भोगनेकेलिए किसी

स्थावर या जंगम शरीरको ग्रहणकरताहै। जबतक कर्मोंका भोगहै, तबतक उसके अनेक विकारोंको धारणकरके भी वहां टिका रहताहै। कर्म-भोग समाप्त होते ही वहांसे चलदेताहै। इसीलिए इस जीवसे त्यागा हुआ यह शरीर ही मरताहै, किन्तु जीव नहीं मरता। यानी शरीर-नाशसे सत्का नाश नहीं होता। "स य एषोऽणिमा"—गाढ़ सुषुप्तिमें मन-से रहित जो अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, शुद्ध, सत् था, वह सुषुप्तिके अन्तमें मनके सहित होकर जाग्रत्में 'मैं' नामवाला कर्ता—भोक्ता जीव बनगया, यह अणिमाहै, इसीका रूप, यह सब तेज जल और पृथ्वीसे बनाहुआ शरीररूपी कार्यहै, परन्तु सुषुप्तिका अकर्ता, अभोक्ता निर्वि-शेष सत् ही सत्यहै, वही अपना स्वरूप होनेसे आत्माहै, हे श्वेतकेतो! 'वह तू है'।

तात्पर्य यह कि जाग्रत् अवस्थाको लेकर "तत्त्वमसि"=तत् त्वं असिका 'वह तू है' ऐसा अर्थ बनताहै। क्योंकि जाग्रत्में यह 'तू' रूपी जीवात्मा 'वह' से यानी निर्गुण शुद्ध सत् रूपसे मनके सहित होकर 'तू' बनगयाहै। परन्तु 'तत्' नामक सत्का मनके सहित त्वं नाम (तू रूप) सत्य नहीं। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इस श्रुतिसे, जिसप्रकार मृत्तिकाका विकार घट आदि कार्य, वाणी पर अवलंबित नाममात्रहै, सत्य केवल मृत्तिका है। इसीप्रकार, सत्का विवर्त या विकार मनके सहित, प्राज्ञ तैजस और विश्वरूप कार्य, वाणी पर अव-लंबित कथनमात्रहै, सत्य तो केवल सत् ही है। इसप्रकार जाग्रत् अवस्थाको लेकर "तत्त्वमसि"='वह तू है' का 'वह ही तू' हुआ है, ऐसा अर्थ करके जाग्रत्में तत् नामक सत्का 'त्वं' नाम 'तू' रूप विकारी और असत्य दिखायागयाहै। जाग्रत्के ग्रहणसे, कारण, सूक्ष्म और स्थूल-इन तीन शरीरोंका ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि आठवें खण्डमें "यत्रैतत्-पुरुषोऽशिशिषति" "यत्रैतत्पुरुषः पिपासति"=जब यह पुरुष खाता और पीताहै, तब यह शरीररूपी कार्य बनताहै। इन सबका मूल सत्' ही है, ऐसा कहाहै। खाना-पीना जाग्रत्में ही होताहै और पुण्य-पापका कर्ता तथा उसके फलका भोक्ता भी मनुष्य वस्तुतः जाग्रत्में ही होताहै। इसीलिए जाग्रत्के ग्रहणसे तीन शरीरोंका ग्रहण करना ठीक ही है।

तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको ग्रहण करना-चाहिए। परन्तु सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थाओं को ग्रहण करना चाहिए, मध्यको नहीं। अन्यथा सुषुप्तिमें सत्‌की निर्विकार शुद्धरूपसे स्थिति कहनेवाली "सता सोम्य" श्रुतिका खण्डन हो जाएगा। अस्तु। इसप्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्यने सुषुप्तिमें, मनसे रहित सत्‌का निर्विकार शुद्ध 'वह' रूप दिखादिया। और जाग्रत् में, मनके सहित उसी सत्‌का 'वाचारम्भणमात्र विकारी असत्य 'तू' रूप दिखायाहै। क्योंकि ऐसा विकारी 'तू' रूप दिखाना भी प्रकरणके अनुसार ठीक ही है। ऐसा जाननेसे ही जीव, शुद्ध सत्‌की ओर जासकताहै।

पहले ऐसा कहाजाचुकाहै कि शरीर ही मरताहै, किन्तु जीव नहीं मरता। यहां श्वेतकेतुको ऐसी शंका हुई कि ऐसा जो अतिसूक्ष्म सत् हैं, उससे इतना बड़ा शरीर कैसे बनसकताहै? ऐसी शंकाको लेकर वह कहताहै कि मुझे फिर समझाइए। अब इस शंकाके समा-धानार्थ उद्दालक कहताहै। अच्छा। बतलाताहूं ॥खण्ड ११॥

बारहवां खण्ड

"न्यग्रोधफलमत"–इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ–

हे सोम्य ! वट-वृक्षसे एक फल तोड़ ला और उसे फोड़ डाल। श्वेतकेतुके ऐसा करनेपर आरुणिने पूछा–इसमें क्या देखताहै? उसने कहा–अणुके समान दानेहैं। आरुणिने कहा–इनमेंसे एकको फोड़ डाल। श्वेतकेतुके ऐसा करनेपर आरुणिने पूछा–इसमें क्या देखताहै? श्वेत-केतुने कहा–कुछ नहीं, तब उससे आरुणिने कहा। हे सोम्य ! इस वट-बीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता–उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वट-वृक्ष खड़ा हुआहै। हे सोम्य ! तू इस कथनमें श्रद्धा कर। वह जो यह अणिमाहै, इसीका रूप यह सबहै, वह सत्यहै। वह आत्माहै, और हे श्वेतकेतो ! 'वही तू है'। श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा–सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १२॥

भावार्थ—जिसप्रकार निर्विशेष, एक, शुद्ध बड़का अतिसूक्ष्म बीज था–उसीका स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, एवं फलसे युक्त यह बड़का वृक्ष बनगया। उसीप्रकार गाढ़ सुषुप्तिका मनसे रहित जो

निर्विशेष, निरवयव एक एवं शुद्ध सत् था, उसीका मनके सहित यह कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरसे युक्त 'तू' नामवाला जंगम और स्थावर जीव बनाहुआहै। उद्दालकने कहा—हे श्वेतकेतो ! मेरे इस कथनमें तू श्रद्धा कर। परन्तु श्वेतकेतु पिताके वचनोंमें श्रद्धा करके मौन नहीं हुआ, उसने कहा—मुझे फिर समझाइए। इससे ऐसी शिक्षा मिलतीहै कि जबतक जिज्ञासुकी शंकाओंका ठीक ठीक समाधान न होजाए तबतक उसे गुरुसे पूछते ही रहना चाहिए। क्योंकि आत्मज्ञान विचारका विषय है, केवल श्रद्धाका विषय नहींहै। "स य एषः"=गहरी नींदका मनसे रहित जो निर्विशेष निरंजन एक एवं शुद्ध सत् था, वह गहरी नींदके बाद मनके सहित होकर प्राज्ञ, तैजस और विश्व नामक जीव बनगया। इसीका रूप, यह सब कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरहै। परन्तु मनसे रहित वह गहरी नींदका सत् ही सत्यहै, वह अपनावास्तविक स्वरूपहै, हे श्वेतकेतो ! "वह तू है"। तात्पर्य यह है कि जाग्रत् अवस्थाको लेकर "तत्त्वमसि" का 'वह तू है', ऐसा अर्थ बनताहै। क्योंकि जाग्रत्में यह 'तू' नामक जीवात्मा, 'वह' से यानी निर्गुण शुद्ध सत्—रूपसे, मनके सहित होकर 'तू' बनगयाहै। इसप्रकार "तत्त्वमसि" वाक्यने गाढ़ सुषुप्तिमें, मनसे रहित सत्का निर्विकार शुद्ध 'वह' रूप दिखादिया, और उसी सत् का जाग्रत्में मनके सहित वाचारम्भणमात्र विकारी और असत्य 'तू' रूप दिखादिया। क्योंकि ऐसा ज्ञान होनेपर ही जीव, शुद्ध सत्की ओर जासकताहै।

'यदि तत् सत्'—इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद=यदि वह सत् जगतका कारणहै तो उपलब्ध क्यों नहीं होता ? हे भगवन् ! इस बातको आप दृष्टांतद्वारा मुझे फिर समझाइए। ऐसा श्वेतकेतुने कहा—तब पिताने सोम्य ! अच्छा, ऐसा उत्तर दिया ॥खण्ड १२॥

तेरहवां खण्ड

"लवणमेतदुदके" इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अनुवाद=हे सोम्य ! इस नमकको जलमें डालकर कल मेरे पास आकर इस नमकको ढूंढना। श्वेतकेतुने ऐसा ही किया। परन्तु उसे डलीरूप (पिंडभूत) नमक उस जलमें नहीं मिला। आरुणिने कहा—नमक इसमें विलीन

होगयाहै, इसीलिए तू उसे नेत्रसे नहीं देखसकता। उसे यदि तू जानना चाहताहै तो इस जलके ऊपर, मध्य और नीचे भागका आचमनकर। श्वेतकेतुके आचमन करनेपर आरुणिने पूछा—कैसाहै? श्वेतकेतुने कहा—नमकीनहै। आरुणिने कहा—इस जलमें नमक सदा विद्यमानहै। ऐसेही वह सत् भी इस शरीरमें सदा विद्यमानहै, तू उसे देखता नहीं। वह जो यह अणिमाहै, इसीका रूप यह सबहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै और हे श्वेतकेतो! 'वही तू है'। श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा— सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १३॥

भावार्थ—आठवें खण्डमें सुषुप्ति तथा मरण अवस्थाद्वारा सत्का शुद्ध-रूप दिखाया, और जाग्रत्में उसीका विकारीरूप दिखादिया। परन्तु सत्की सदा ही शुद्धरूपसे स्थितिका कोई साधन नहीं बताया। उसका साधनहै विवेक आदि पूर्वक निर्विकल्प समाधि। वह जाग्रत्में ही होसकतीहै। अतः जाग्रत्के ग्रहणसे उसका भी ग्रहण कियाहै। जिस-प्रकार जलमें विलीन हुआ नमक दर्शन-स्पर्शनसे गृहीत न होता हुआ भी वहां विद्यमानहै। क्योंकि उसका जीभसे ग्रहण होताहै। उसीप्रकार कारण-कार्यरूप शरीरमें विद्यमान होताहुआ भी सत् आत्मा, उपाया-न्तरसे उपलब्ध होसकताहै।

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि तीसरी श्रुतिका भावार्थ=निर्विकल्प समाधिमें मनसे रहित जो निर्विशेष, अकथनीय एवं शुद्ध सत् था वह समाधिके अन्तमें मनके सहित होकर 'मैं' नाम वाला कर्ता भोक्ता जीव होगया। इसीका रूप यह सब कारण-कार्य-रूपी शरीरहै, वह समाधिका-सत् ही सत्यहै, वही अपना स्वरूपहै। हे श्वेतकेतो! "वही तू है" अर्थात् तू ही ज्ञेयब्रह्महै। यहां भी "वही तू है" इसके स्थानमें 'तू वही है', ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिये। क्योंकि निर्विकल्प समाधिमें यह 'तू' से 'वह' होजाताहै।

श्वेतकेतुने कहा—यदि वह सत् उपायान्तरसे उपलब्ध होताहै तो उसकी प्राप्तिका क्या उपायहै? इस बातको हे भगवन्! आप दृष्टान्तद्वारा मुझे फिर समझाइए। तब आरुणिने कहा—सोम्य! अच्छा ॥खण्ड १३॥

चौदहवां खण्ड

"यथा सोम्य०" इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षिप्त अनुवाद=हे सोम्य ! जैसे कोई चोर किसी धनी पुरुषकी आंखें बांधकर उसे गान्धार देशसे ले आये और उसका धन छीनकर किसी जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह वह पुरुष क्रमसे चारों ही दिशाओं की ओर मुख करके चिल्लाए कि मेरी आंखें बांधकर मुझे यहां लायागयाहै और वैसे ही छोड़ दियागयाहूं। ऐसी उसकी पुकार सुनकर कोई दयालु पुरुष, उस पुरुषके बन्धन खोलकर कहे कि गान्धार इस दिशामें है, अतः तू इसी दिशाको चला जा। तो वह बुद्धिमान् पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धारमें ही पहुंच जाताहै। ऐसेही आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानताहै। फिर उसका मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्वहै जवतक कि वह प्रारब्धकर्मकी भोगसे समाप्ति नहीं कर देता। उसके पश्चात् तो वह सत् से सम्पन्न होजाताहै, वह जो यह अणिमाहै, इसीका रूप यह सवहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै, हे श्वेतकेतो! "वही तू है"। श्वेतकेतुने कहा—मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १४॥

भावार्थ—यथायं दृष्टान्तो वर्णितः—इत्यादि शांकर भाष्यका अनुवाद =जिसप्रकार इस दृष्टांतका वर्णनकियागयाहै अर्थात् अपने देश गान्धार से चोरोंद्वारा आंखें बांधकर लाया जानेकेकारण विवेक-शून्य, दिङ्मूढ़ तथा भूख-प्याससे युक्त होकर व्याघ्र तस्कर आदि अनेकों भय और अनर्थ—समूहसे सम्पन्न वनमें प्रवेशित किया हुआ पुरुष दुःखार्त होकर चिल्लाता हुआ बन्धनोंसे मुक्त होनेकेलिए उत्सुक था और वह किसी कृपालुद्वारा उन बन्धनोंसे छुड़ा दिया जानेपर किसी प्रकार अपने देश गान्धारमें पहुंचकर ही कृतार्थ यानी सुखी हुआ। ठीक इसीप्रकार संसारके आत्मस्वरूप सत्से तेज, जल और अन्नादिमय देहरूप वनमें, जोकि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि और मल-मूत्रसे पूर्ण तथा शीतोष्णादि अनेकों द्वन्द्व और सुख-दुःखसे युक्तहै, यह जीव मोहरूप वस्त्रसे बन्धे हुए नेत्रवाला होकर, तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, पशु और बन्धु आदि दृष्ट तथा अदृष्ट अनेकों विषयतृष्णाओंसे

जकड़ा जाकर पुण्य–पापरूप चोरोंद्वारा प्रवेशित करदिये जानेपर 'मैं इसका पुत्र हूं, ये मेरे वान्धवहैं, मैं सुखी, दुःखी, मूढ़, पण्डित, धार्मिक अथवा वन्धुमान् हूं, मैं उत्पन्न हुआ हूं, मरता हूं, जराग्रस्त हूं, पापी हूं, मेरा पुत्र मरगयाहै, धन नष्ट होगयाहै, हा ! मैं मारा गया, अब कैसे जीवित रहूंगा ? मेरी क्या गति होगी ? अब मेरा रक्षक कौनहै ?' इसीप्रकारके अनेकों सैंकड़ों अनर्थजालोंसे युक्त होकर रोता हुआ जब पुण्यकी अधिकता होनेसे किसीप्रकार किसी परम कृपालु सद्ब्रह्मात्मज्ञ वन्धनमुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषको प्राप्तहोताहै और उस ब्रह्मवेत्ताद्वारा दयावश सांसारिक विषयोंसे विरक्त होजाताहै तथा 'तू' संसारी नहीं और न इसके पुत्रत्वादि धर्मवाला ही है, तो कौनहै ? जो सत् तत्त्वहै 'वही तू है'। इसप्रकारके उपदेशसे अविद्यामय मोहरूप वस्त्रके वन्धनसे छुड़ाया जाकर गान्धार देशीय पुरुषके समान अपने सदात्माको प्राप्त होकर सुखी और शान्त होजाताहै–इसी वातको (आरुणिने) "आचार्यवान्पुरुषो वेद" इस वाक्यसे कहाहै।

'स य एषोऽणिमा'-इत्यादि श्रुतिका भावार्थ=समाधिदशामें अव्यक्तके सत्में लीन होजानेपर जो निर्गुण, निर्विशेष, निर्द्वैत एक ही शुद्ध सत् ब्रह्म था वह, समाधिके अन्तमें अव्यक्तके सहित होकर प्राज्ञ नामक सापेक्ष ईश्वर या जीव वनगया। यह सूक्ष्महै, इसीकारूप यह सव स्वप्न जाग्रत्रूप प्रपंचहै। परन्तु वह समाधिका सत् ही सत्यहै, वह अपना–स्वरूपहै, हे श्वेतकेतो ! 'वह तू है'। यहां भी "तत् त्वं असि"=वह तू है, इसके स्थानमें "त्वं तत् असि"=तू वह है, ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिए। क्योंकि समाधिमें यह जीवात्मा 'तू' से 'वह' यानी शुद्ध सच्चिदानन्द होजाताहै।

आठवें खण्डमें वतलाई हुई सत्की सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्थाका विस्तृत वर्णन कियाजाचुकाहै। अब श्वेतकेतु सत्की शेष रही मरण अवस्थामें स्थिति पूछना चाहताहै। इसीसे वह कहताहै कि मुझे फिर समझाइए। उद्दालकने कहा—सोम्य ! अच्छा। यहांके "आचार्यवान्" इत्यादि शांकर भाष्यका अनुवाद=हे भगवन् ! आचार्यवान् विद्वान् जिस क्रमसे सत्को प्राप्त होताहै वह क्रम मुझे दृष्टांतद्वारा फिर

समझाइए ? ऐसा श्वेतकेतुने पूछा। तब आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १४॥

पंद्रहवां खण्ड

"पुरुषं सोम्य०" इत्यादि तीन श्रुतियोंका संक्षेपमें अनुवाद=हे सोम्य ! ज्वर आदिसे संतप्त मरणासन्न पुरुषको चारों ओरसे घेर कर उसके बान्धवजन पूछाकरतेहैं। क्या तू मुझे जानताहै ? क्या तू मुझे जानताहै ? जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होजाती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परमात्मामें लीन नहीं होजाता तबतक वह पहचान लेताहै। फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन हो-जातीहै, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परमात्मदेवमें लीन होजाताहै, तब वह नहीं पहचानता। वह जो यह अणिमाहै, इसीकारूप यह सबहै, वह सत्यहै, वह आत्माहै, हें श्वेतकेतो ! 'वही तू है'। श्वेतकेतुने कहा मुझे फिर समझाइए। आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १५॥

"स य एषोऽणिमा"—इत्यादि तीसरी श्रुतिका भावार्थ=मरण-अवस्थामें अव्यक्त बुद्धि या मनके सत्में लीन होजानेपर जो निर्गुण निर्विशेष द्वैतरहित एवं शुद्ध ब्रह्म सत् था, वह मर जानेके कुछ समय बाद अव्यक्त बुद्धि या मनके सहित होकर प्राज्ञ नामवाला जीव होगया, यह सूक्ष्महै, इसीकारूप यह सब सूक्ष्म और स्थूल शरीरके सहित तैजस और विश्वरूपहै, परन्तु मरणमेंका सत् ही सत्यहै, और वही अपना स्वरूपहै, हे श्वेतकेतो ! "वह तू है"। यहां भी "वह तू है" इसके स्थान पर "तू वह है" ऐसा अर्थ समझना चाहिए। क्योंकि मृत्युमें यह जीवात्मा 'तू' से 'वह' यानी शुद्ध सच्चिदानन्द होजाताहै।

"यदि मरिष्यतः"—इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद=यदि मरने-वाले और मुमुक्षुकी सत्संपत्ति एक जैसीहै तो विद्वान् सत्को प्राप्तहो-कर नहीं लौटता और अविद्वान् लौटताहै—इसमें जो कारण हैं, हे भगवन् ! दृष्टांतद्वारा मुझे फिर समझाइए। (ऐसा श्वेतकेतुने कहा) तब आरुणिने कहा—सोम्य ! अच्छा ॥खण्ड १५॥

सोलहवां खण्ड

"पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतं०" इत्यादि श्रुतियोंका संक्षिप्त अर्थ=

हे सोम्य ! राजाके कर्मचारीलोग किसी पुरुषके हाथ बांधकर लातेहैं। और कहतेहैं कि इसने धनकी चोरीकी है। इसके लिए परशु=कुल्हाड़ा तपाओ। वह यदि चोरी करनेवाला होताहै तो झूठको अन्दरमें छिपा कर परशुको पकड़ताहै तब उसका हाथ दग्ध होजाताहै। और वह राजाके पुरुषोंद्वारा माराजाताहै। और यदि वह चोरी करनेवाला नहीं होताहै तो वह सत्यको अन्दरमें आवृत कर परशुको पकड़ताहै तो वह उससे नहीं जलता, और तत्काल छोड़ दियाजाताहै। वह जिसप्रकार उस (परीक्षाके) समय नहीं जलता (उसीप्रकार विद्वान्का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्का होताहै) वह सब एतद्रूप ही है, वह सत्यहै, वह आत्माहै, और हे श्वेतकेतो ! वही तू है। तब वह=श्वेतकेतु उसे जान गया—उसे जान गया ॥खण्ड १६॥

"स यथा सत्याभिसन्धः" इत्यादि शांकर-भाष्यका अनुवाद=वह सत्याभिसन्ध पुरुष जिसप्रकार उस तप्तपरशुको ग्रहण करनेके कर्ममें हथेलीके सत्यसे व्यवहित रहनेके कारण नहीं जलता, उसीप्रकार देह-पातके समय सद्ब्रह्मरूप सत्में निष्ठा रखनेवाले और उससे भिन्न असन्निविष्ट पुरुषकी सत्संपत्तिमें समानता होनेपर भी जो विद्वान्है वह व्याघ्र अथवा देवादि शरीरोंको ग्रहणकरनेकेलिए नहीं लौटता, किन्तु अविद्वान् विकाररूप अनृतमें अभिनिविष्ट होनेकेकारण अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार पुनः व्याघ्रादि भाव अथवा देवादिभावको प्राप्तहो-जाताहै।

मरणमें और कैवल्यमुक्तिमें अन्तर—

जिसप्रकार दो मनुष्य काशीजी पहुंच गये। उनमें जो मनुष्य पीछे कुछ काम शेष रखकर काशीमें पहुंचाहै, वह दो चार दिनके बाद काशीसे लौट आताहै। जो मनुष्य पीछे कुछ भी काम शेष रख कर नहीं गया, वह काशीसे नहीं लौटता। परन्तु काशीमें दोनों ही मनुष्य पहुंच गयेहैं। उसीप्रकार जिस मनुष्यका वुद्धि या मन पुण्य-पापोंके संस्कारोंके सहित मरणके सत्में लीन हुआहै, वह मरणमें, मुक्त सद्रूप होकर भी वहांसे लौट कर जन्म ग्रहणकरताहै। जिस मनुष्यका मन,

मरणके सत्‌में पुण्य-पापोंको ज्ञानरूप अग्निसे दाहकरके लीन हुआहै वह सत् सदाके लिए मुक्त होजाताहै, परन्तु मर जाने पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही मुक्त सद्ब्रह्म होगयेहैं ।

मरणासन्न इस पुरुषकी वाणी मनमें लींन होजातीहै तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परमात्मामें लीन होजाताहै ।

"तदेवं क्रमेणोपसंहृते स्वमूलं प्राप्ते च मनसि" इत्यादि (आठवें खण्डके) शांकरभाष्यका अनुवाद=तब इसप्रकार क्रमशः उपसंहृत हौकर मनके अपने मूलभूत पर-देवताको प्राप्त होनेपर उसमें स्थित जीव भी सुपुप्तकालके समान अपने निमित्त (मन) का उपसंहार होजानेके-कारण उपसंहृत होताहुआ यदि सत्यानु-संधान-पूर्वक उपसंहृत होताहै तो सत्‌कोही प्राप्त होजाताहै । सोकर जगे हुए पुरुषके समान फिर देहान्तरको प्राप्त नहीं होता । जिसप्रकार कि लोकमें भयपूर्णदेशमेंर हने-वाला कोई प्राणी किसीप्रकार अभयदेशमें पहुंच जानेपर (फिर वहां से नहीं लौटता) उसीप्रकार (यह भी नहीं लौटता) किन्तु अन्य जो अनात्मज्ञहै वह सोनेसे जगेहुए पुरुषके समान मरनेके अनन्तर उस अपने मूलसे जिस मूलसे कि जीव उठकर देहमें प्रवेश करताहै, उठकर फिर देहपाशमें प्रवेशकरताहै ॥६॥

इस उक्त भाष्यके अनुसार, वासना-रहित मनके स्वस्वरूपभूत सत् ब्रह्ममें लीन होजानेपर जो सदाके लिए सो जानाहै, मर जाना या अमर होजानाहै, वह कैवल्यमुक्ति या विदेहमुक्तिहै ।

"यदात्माभिसन्ध्यनभिसन्धिकृते" इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद =जिस आत्माकी अभिसन्धि और अनभिसन्धिकेकारण मोक्ष और बन्धन होतेहैं, जो संसारका मूलहै, सम्पूर्ण प्रजा जिसके आश्रित और जिसमें प्रतिष्ठितहै, सारा संसार जिस स्वरूपवालाहै, तथा जो अजन्मा, अमृत, अभय, शिव और अद्वितीयहै, वही सत्यहै और वही तेरा आत्माहै, अतः हे श्वेतकेतो ! "तू वह है" । इसप्रकार इस वाक्यका अर्थ कई वार कहा जाचुकाहै । इति ।

स्मरण रहे कि इस भाष्यने तत् नाम वाले सत्‌को माया आदि सभी उपाधियोंसे रहित शुद्धब्रह्म मानाहै । इसलिए इसमें किसी भी

प्रकारकी लक्षणावृत्तिकेलिये स्थान नहीं है।

"कः पुनरसौ श्वेतकेतुस्त्वं शब्दार्थः" इत्यादि शांकरभाष्यका अनुवाद =(अब यहां प्रश्न होताहै कि) त्वं शब्दका वाच्य यह श्वेतकेतु कौनहै? (उत्तर) जो मैं श्वेतकेतु उद्दालकका पुत्र हूं—ऐसा अपनेको जानता था तथा जिसने (अपने पिताके) उस आदेशका श्रवण, मनन और ज्ञान प्राप्तकरके, अश्रुत, अमत और अविज्ञातको जाननेकेलिए पितासे पूछा था कि भगवन्! वह आदेश किसप्रकारहै। वह यह अधिकारी श्रोता, मन्ता और विज्ञाता दर्पणमें प्रतिफलित हुए पुरुष और जलादिमें प्रति-विंबरूपसे प्रविष्ट हुए सूर्यादिके समान तेज, जल, अन्नमय, देहेन्द्रिय—संघातमें नामरूपकी अभिव्यक्ति करनेकेलिए प्रविष्ट हुआ परमात्मदेव ही है। वह पिताका उपदेश सुननेसे पूर्व अपनेको देह और इन्द्रियोंसे भिन्न सद्रूप सर्वात्मा नहीं जानता था। अब 'तू वह है' इसप्रकार दृष्टांत और हेतुपूर्वक पिताद्वारा समझाया जानेपर, यह पिताके इस कथनको कि 'मैं सत् ही हूं' समझगयाहै।

शांकर भाष्यका सारांश

शांकरभाष्यने तत्वमसिके प्रकरणमें जहां तहां दृष्टांत स्वरूप १—जल, उसमें सूर्यका प्रतिविम्ब और सूर्यको रखाहै। २—दर्पण, उसमें मुखका प्रतिविम्ब और मुखको रखाहै। दार्ष्टान्तिमें, मन और मनमें आत्माका प्रतिबिम्ब और आत्माको 'त्वं' माना है, जोकि कर्ता भोक्ता जीवहै। दृष्टांतमें जलके न रहनेसे केवल सूर्यके समान और दर्पणको हटालेनेसे अकेले मुखके समान, दार्ष्टान्तिमें मनके न रहनेसे केवल शुद्ध सच्चिदानन्द आत्माको तत् पदसे ग्रहणकियाहै, जोकि अकर्ता अभोक्ता परमात्माहै। जिसप्रकार कुआं, बावली, तालाब आदि के जल अनेकहैं, उनमें प्रतिबिम्ब भी अनेकों ही हैं, किन्तु बिम्बरूप सूर्य एकहै। उसी-प्रकार देव दानव आदिके भेदसे मन भी असंख्यहैं, उनमें प्रतिविम्बरूप त्वं नामवाले जीव भी असंख्य ही हैं। परन्तु सूर्यस्थानी तत् नामवाला शुद्ध सत् एक ही है। कारण कि उसी सत् नामक परमात्माने इस मनः-प्रभृत संघातमें जीवरूपसे प्रविष्ट होकर नामरूपको प्रकट कियाहै।

छठे अध्यायके साररूप तत्त्वमसि का अर्थ

अव्यक्त बुद्धि और मनसे रहित महाप्रलयकी, और सुषुप्तिकी मध्य अवस्थाका, निर्विकल्पसमाधिका, मरणका, और कैवल्य-मुक्तिका, 'तत्' नामवाला जो सत् है वह मृत्तिका स्वर्ण और लोहेके समान पारमार्थिक सत्यहै और शुद्धब्रह्महै। अव्यक्त बुद्धि और मनके सहित महाप्रलयकी, और सुषुप्तिकी आदि और अन्त अवस्थाका, स्वप्न तथा जाग्रत्का, 'त्वं' यानी तू नामवाला जो सत् है वह, घट कंकण और चिमटे आदिके समान कार्य विकार अनृत परिच्छिन्न और कर्ता भोक्ता संसारी=जीवहै। इसलिए अव्यक्त बुद्धि और मनके सहित जो सत्है वह श्वेतकेतु नामवाला जिज्ञासुरूपी 'तू' है। इसे विवेक आदि साधन-संपत्तिके सहित होकर आत्मज्ञानद्वारा अव्यक्त बुद्धि और मनको लीन करके कैवल्यका तत् या 'वह' नामवाला अपना ही शुद्ध स्वरूप जो सत् ब्रह्महै उसरूपसे स्थित होजाना चाहिए।

"प्रज्ञानं ब्रह्म" इस वाक्यका अर्थ

ऐतरेयमें "आत्मा वा" इस श्रुतिसे ऐसा कहाहै कि पहिले एकही अद्वितीय आत्मा था। उसने इच्छाकी। यहां आत्मा नाम चैतन्यका है। क्योंकि आगे तीसरे अध्यायमें ऋषियोंद्वारा परस्परमें यह प्रश्न उठायागया कि जिसकी हमलोग उपासना करतेहैं वह यह आत्मा कौन-है। क्योंकि एकतो आत्मा वहहै जोकि पहिले एक अद्वितीय था। दूसरा यह है जिससे देखताहै सुनताहै गन्ध लेताहै शब्द उच्चारण करता-है स्वाद और अस्वादको जानताहै अर्थात् जो संसारीहै। ऐसा विचार विनिमयहोनेपर अन्तमें सबने यही निर्णयकियाकि एकही आत्माहै उसी-कारूप यह सबहै। जो यह अंतः करणहै, यही मनहै, संज्ञान आज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टि धृति मति मनीषा जूति स्मृति संकल्प क्रतु असु काम और वश ये सब प्रज्ञानके ही नामहैं। यही ब्रह्मा इन्द्र प्रजा-पति देवता पाँच महाभूत आदि जो कुछभी स्थावर जंगमहै यह सब प्रज्ञासे संचालितहै तथा सबकी प्रज्ञानमें स्थितिहै और प्रज्ञानही सबका आधार या लयस्थानहै। प्रज्ञानब्रह्महै। यह श्रुतियोंका भावार्थके सहित

अर्थहै। श्रुतिरूपी गुरुसे श्रवणकियेहुए इस वाक्यमें शिष्यको शंका हुई कि प्रज्ञानपद तो मनके सहित चैतन्यका वाचकहै और मन सहित चैतन्य, प्रज्ञानपदका वाच्यहै। ब्रह्म नाम, मनरहित व्यापक चैतन्यकाहै। वृत्तिसहित परिछिन्न चैतन्यकी और वृत्तिरहित व्यापक चैतन्यकी एकता नहीं होसकती। अब "आचार्यवान् पुरुषो वेद" गुरुवाला पुरुषही परमात्माको जानसकताहै इस श्रुतिके अनुसार, जीवितगुरुजी, इस वाक्यमें लक्षणा करतेहैं कि हे शिष्य, मनके सहित आत्मा या चैतन्य-रूपी प्रज्ञानमेंसे एकताके विरोधि मनरूपी एकभागका त्यागकरनेसे दूसराभाग चैतन्य, ब्रह्मपदसे एक अद्वितीय लक्ष्यहै। यहां ब्रह्म लक्ष्य नहींहै किन्तु ब्रह्मका स्वरूप, चैतन्यही लक्ष्यहै। स्मरण रहेकि ",प्रज्ञानं ब्रह्म" इस वाक्यमें ब्रह्म यह पद, मायारहित चैतन्यका बोधकहै किन्तु आदित्यस्थानी मायापति ईश्वरका स्मारक नहींहै। क्योंकि यह प्रकरण केवल ज्ञानका हीहै किन्तु यह उपासनाका नहींहै।

"अहं ब्रह्मास्मि" इस वाक्यका अर्थ

वृहदा० अ० १ ब्राह्मण ४ की ९ और दशवीं श्रुतिका सम्पूर्ण अर्थ पीछे लिखाजाचुकाहै। अब उनमेंसे "अहंब्रह्मास्मि" इस वाक्यका अर्थ लिखाजारहाहै। 'अहं' इस पदका, मन या बुद्धिकेसहित सच्चिदानंद वाच्यहै और 'ब्रह्म' यह पद लक्षणाहै तथा 'अस्मि' यह पद एकताका बोधकहै। अहंके वाच्यमेंसे एक मनरूपी वृत्तिभागका त्याग करनेसे दूसराभाग सच्चिदानन्द, ब्रह्म पदसे एक अद्वितीय लक्ष्यहै। अर्थात् मनो-वृत्तिके निरोध होनेपर सच्चिदानन्दमें द्वैत नहींहै। क्योंकि वृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ३ श्रुति ७ "ध्यायतीव लेलायतीव" मनके ध्यान करनेपर आत्मा ध्यान करतासा होताहै और मनके चंचल होनेपर आत्मा चंचलसा होजाताहै। इस श्रुतिसे आत्मामें क़र्तापनेका कारण मन या बुद्धि हीहै। स्मरणरहेकि "अहंब्रह्मास्मि" इस वाक्यमें 'ब्रह्म' यह पद, सच्चिदानन्द-का स्मारकहै किन्तु आदित्यस्थानी सर्वज्ञ ईश्वरका स्मारक नहींहै। क्योंकि यह प्रकरण केवल ज्ञान परकहै किन्तु यह उपासना परक नहींहै।

"अयमात्मा ब्रह्म", इस वाक्यका अर्थ

मांडूक्यके आरम्भमें, समस्त विश्वको ओंकाररूप बतायागया। फिर ओंकारको ब्रह्म बतायागया। इसके अनन्तर ब्रह्मको 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्महै, ऐसा कहागया। तत्पश्चात् ब्रह्मात्माको चतुष्पाद बतायागया। फिर अध्यात्म विश्वको और अधिदैव वैश्वानरको ब्रह्मात्माका पहिलापाद कहागया। ऐसेही तैजसको और हिरण्यगर्भको ब्रह्मात्माका दूसरापाद बतायागया। इसके पीछे प्राज्ञको और आदित्यस्थानी ईश्वरको ब्रह्मात्माका तीसरापाद कहागया। फिर ब्रह्मात्माको "नान्तःप्रज्ञं०" इससे अविद्या मायासे रहित चौथा पाद कहागया। फिर अध्यात्म विश्वकी, अधिदैव वैश्वानरकी और अकारकी एकता कहीगई। इसके अनन्तर अध्यात्म तैजस, अधिदैव हिरण्यगर्भ और उकारका अभेद बतायागया। फिर अध्यात्म प्राज्ञ अधिदैव ईश्वर और मकारको एक बतायागया। तत्पश्चात् अमात्राका आत्मा और ब्रह्मका अभेद बतायागयाहै। प्रियपाठको। इसप्रकार ओंकारकेद्वारा, सापेक्ष सगुणब्रह्म आदित्यस्थानी ईश्वरकी और निर्गुणब्रह्मकी आत्माके साथ अभेद उपासना बताईगईहै। इसीलिए प्रत्येक अंगरूप उपासनाके अन्तमेंभी "य एवं वेद" जो इसप्रकार उपासना करताहै, ऐसा फलरूप पाठ दियागयाहै। "अयमात्मा ब्रह्म" इस वाक्यसे आरम्भकरके आत्माके विश्व आदि मनुष्यशरीर विषयक अध्यात्म तीनपाद, और ब्रह्मके वैश्वानर आदि आदित्यस्थानी अधिदैव तीनपाद, एवं ओंकारकी अकार आदि तीन मात्राएं मन और मायाके सहित बताकर ईश्वरके साथ प्राज्ञका अभेद चिन्तन बतायागया। यह सगुण उपासना बताईगई। अन्तमें आत्मा नामका चौथा पाद, तथा ब्रह्म नामका चौथा पाद, और ओंकारकी चौथी अमात्राको, मन और मायाके रहित शुद्ध बतायागयाहै। इससे निर्गुण उपासना कहीगईहै। इसप्रकार "अयमात्मा ब्रह्म" इस वाक्यमें, आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पद शुद्धहैं। इसीसे इस वाक्यमें किसीभी प्रकारकी लक्षणावृत्तिकेलिए स्थान नहींहै। क्योंकि यह उपासनाका प्रकरणहै। और ये उपासनाएं मंद और मध्यम अधिकारीकेलिये बताई गईहैं। अस्तु, पूर्वोक्त समग्र लेखका सारांश यह हुआकि छांदोग्यके छठे अध्यायमें ब्रह्मके

संत् रूपको, ऐतरेयमें ब्रह्मके चित् रूपको वृहदा० तैतरीय और मांडूक्यमें ब्रह्मके सत्यज्ञानानन्द या सच्चिदानन्दरूपको उक्त रीतिसे एकही अद्वैत सिद्ध कियागयाहै ।

परमधामकी प्राप्ति

प्रिय पाठकगण । इस स्वस्वरूपभूत सच्चिदानन्दरूपी परमधामका मार्ग सरल तथा अति सुगमहै । इस मार्गमें चलतेहुए समष्टिको अपने साथ घसीटनेकी आवश्यकता नहींहै । क्योंकि यह परमधाम, किसीकी संमिलित संपत्ति नहींहै । अतः इसका वटवारा करना नहींहै । क्योंकि यह, वास्तवमें अपनाही स्वरूपहै । मांडूक्य उप० के अनुसार, इसको ऐसे जाना होगा । जबकि मनुष्य, वाहरके पदार्थोंमें, यह सुन्दरहै और यह असुन्दरहै ऐसे कहाकरताहै, तब इस वृत्तिका नाम मनहै । यह वृत्ति वहिप्रज्ञा या स्थूलवृत्तिहै । और यहां स्थूलभोगहै । क्योंकि इसके उस भोगको लोग देखरहेहैं । ऐसी जाग्रत अवस्थावाले स्वस्वरूप सच्चिदानन्द आत्माका नाम विश्वहै, और यह वाहरकी ओरसे आत्माका पहिला पादहै या पादके समान पादहै । क्योंकि निर-वयव आत्माके वास्तवमें हिस्से नहीं होसकते । जब फिर मनुष्य जाग्रतके मनोराज्यमें या स्वप्नमें, अन्दरके पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट वृत्ति करताहै, यह अन्तः प्रज्ञा या अन्दर बुद्धिवृत्ति कहलातीहै, जोकि पहले मनके रूपमें अतिस्थूल थी । यहां सूक्ष्म भोगहै, क्योंकि इसके उस भोगको वाहरके लोग नहीं देखसकते । इस स्वप्न अवस्थावाले आत्माका नाम तैजसहै, और यह वाहरकी ओरसे आत्माका या अपना दूसरा पादहै, जोकि पहिले विश्वरूपको धारण कियेहुए था । यह पुण्य और पापका करनेवाला तथा उसके सुख और दुखरूपी फलोंका भोगताहै । "द्वा सुपर्णा" इसमंत्रमें वतायाहुआ यह एक पक्षी है । जबफिर मनुष्य, मनोराज्य या स्वप्नको त्यागकर केवल अस्मि = हूं इस सामान्यवृत्ति वाला होताहै, तब इस वृत्तिका नाम प्रज्ञानघन या विशेषज्ञानोंका एकीभावहै, जोकि यह वृत्ति पहिले बुद्धिके रूपमेंथी । इसवृत्तिका नाम कारणशरीरभीहै । क्योंकि आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्ति करताहै । इस वृत्तिका नाम आनंदमयभीहै । क्योंकि आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा आनन्द प्रधान होताहै । इस

वृत्तिका नाम अविद्याभीहै। क्योंकि आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा अपने वास्तविक स्वरूपको जानता नहींहै। इस वृत्तिका नाम चेतोमुखभीहै। क्योंकि आत्मा सुषुप्तिके अन्तमें, इस वृत्तिद्वारा स्वप्न जाग्रतरूपी चेतनाको प्राप्त होताहै। इसलिये यह चेतनाका द्वारहै। आत्मा, इस वृत्तिकेद्वारा आनन्दभुक्‌है या अपने स्वरूपभूत आनन्दकों भोगताहै। क्योंकि यह आनन्द, किसी पुण्यका फल न होकर अपनाहीहै। ऐसी सुषुप्तिकी आदि अवस्थावाले आत्माका नाम प्राज्ञहै। और यह बाहरकी ओरसे आत्माका या अपना तीसरा पादहै, जोकि इससे पहले तैजस-नामवाला जीवथा। यह प्राज्ञ, अपने कारण कार्यरूपी शरीरका नियन्ताहोनेसे ईश्वरहै। जब फिर मनुष्य, इस मैं वृत्तिकोभी त्यागकर सुषुप्तिकी मध्य या गाढ़ सुषुप्तिमें सत् रूप होजाताहै, तब उसी मनरूपी अविद्याके स्वस्वरूप सत्‌में लीनहोजानेसे न बहिप्रज्ञहै, न अन्तः प्रज्ञहै, न उभय प्रज्ञावालाहै, न प्रज्ञानघनहै, न चेतनहीहै, न जड़है, न दृष्टहै, इसीसे न व्यवहारका विषयहै, अग्राह्यहै, चिन्हसे रहितहै, चिन्तनका अविषयहै, एक अपना आपही प्रमाणहै या द्वैतरहितहै, प्रपंचका उपशमहै, शान्तहै या सर्वकल्पना शून्यहै, शिवहै या कल्याणरूपहै, अद्वैतहै या मनरूपी द्वैत या जीव और ईश्वररूपी द्वैत नहींहै, इसको ज्ञानीलोग, बाहरकी ओरसे चौथा या तुरीय अवस्थावाला आत्मा मानतेहैं, जोकि पहिले प्राज्ञरूपी ईश्वर था। वह आत्मा विज्ञेय या जाननेके योग्यहै। ऐसी मन या बुद्धिकी रहित अवस्थामें आत्माको, भगवान् बुद्धका अनुयायी कोई एक शून्य मानताहै। न्याय और वैशेषिक ये दोनों शास्त्र, जड़ और द्रव्य मानतेहैं। सांख्य और योग ये दोनों शास्त्र, सत् और चित् मानतेहैं। अद्वैतसिद्धान्तके अनुयायी वेदान्तीलोग, "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" आनन्दमयरूप पक्षीका ब्रह्म "पुच्छ" या आधारहै, इस तैतरीय श्रुतिसे आत्माको सत् चित् और आनन्दरूप मानतेहैं। यह अवस्था निर्विकल्प होनेसे अनिर्वाच्यहै। इसीसे सबलोग, अपनी २ वृत्तिसे आत्माकी भिन्न २ कल्पना करतेहैं। अब उपरोक्त समग्र लेखका वास्तविक तात्पर्य समझनाचाहिए कि ऐसेतो यह जीवमात्रकीही स्वाभाविक अवस्थाहै एवं अपना स्वरूपहोनेसे यही परमधामहै, तोभी इससे दुखकी अत्यन्त निवृत्ति और परम-

सुखकी प्राप्तिरूपी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती। परन्तु पूर्वोक्त विवेक वैराग्य आदि साधनोंसे संपन्नहोकर जोभी मनुष्य, ब्रह्मविद्याकेद्वारा अपनेको मैं सच्चिदानंद ब्रह्महूं ऐसे ब्रह्मरूप या सर्वात्मरूप अनुभव करलेताहै, वह राग पूर्वक शब्दादि विषयोंको न भोगताहुआ, प्रारब्धकर्मका भोगसे क्षय होजानेपर, तथा बाह्य संसारमें राग द्वेषके सर्वथाही छूट जानेपर, साथ साथ अपने स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरमें रागका अत्यन्ताभावहोकर अन्तमें प्राणोंका वियोग होजानेपर, वास्तविक स्वस्वरूपावस्थिति मुक्तिको प्राप्त करताहै, या यु कहोकि वह ब्रह्मनिष्ठ, एकपाद सगुणब्रह्मताको त्यागकर विदेहकैवल्यमुक्तिमें, त्रिपाद विशुद्ध निर्गुण सच्चिदानंद ज्ञेयब्रह्मरूपसे स्थित होताहै।

बन्ध मोक्षके नित्य और अनित्य पर विचार—

सगौड़पादीयाथर्ववेदीय मांडूक्योपनिषदके चतुर्थ प्रकरणमें श्लोक ३०

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य च न सिध्यति ॥

इसका अर्थ यहहै कि संसारको अनादिमानकर फिर उसकी समाप्ति माननेनी युक्तिसंगत नहींहै, और मोक्षको आदिवाला अर्थात् उत्पत्तिवाला मानकर फिर उसे अनन्त अर्थात् नित्य मानना यहभी सिद्ध नहीं होताहै या उचित नहींहै। भावार्थ यह हुआकि आदिके साथ अन्तका और अनादिके साथ अनन्तकाही संबन्ध या मेलहै। वैतथ्य प्रकरणमें श्लोक ३२

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

न प्रलयहै और न उत्पत्तिहै तथा न बंधाहुआहै एवं न साधकहै और न मुमुक्षुहै तथा न मुक्तहै यही परमार्थहै। सारांश यह हैकि ब्रह्मात्मामें, इसप्रकारके अनेकोंही विवर्त होतेरहतेहैं इसका वास्तविक संबंध किसीके साथ नहींहै। योगवासिष्ठके तीसरे उत्पत्ति प्रकरणमें वसिष्ठजीने कहाहैंकि हे रामजी। समुद्रमें तरंगोंके समान आत्मामें स्पन्दका होना अनिवार्यहै और इसको निवृत करना परम पुरुषार्थहै। प्रिय पाठको। ऐसे उल्लेखोंसे यही सिद्धहोताहैकि केवल सच्चिदानंदब्रह्मही स्वरूपसे अनादि और अनन्तहै। उसमें इच्छारूपी अविद्याशक्ति तथा उसका कार्य

उत्पत्ति प्रलय ईश्वर जीव बन्ध और मोक्ष आदि जितनीभी कल्पनाहै वह सब प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्तहै, किंतु वह स्वरूपसे आदि और अन्तवालीहै। क्योंकि अत्यन्त असत् शशविषाणकी और वन्ध्यापुत्रकी उत्पत्ति तथा उसका विनाश नहीं देखागयाहै। परन्तु जिसकी प्रतीति होरहीहै वह वस्तु अत्यन्त असत् नहींहै। अब चाहेतो इस इच्छाशक्तिको सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय कहकर मित्थ्या मानलीजिए अथवा इसको स्वप्नदृष्टांतसे असत् बतादीजिये। परन्तु यह इच्छाशक्ति और इसका कार्य, अत्यन्त असत् नहीं होसकता। इसीसे यह कारण कार्यात्मक प्रपंच, प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्तहै, किंतु यह स्वरूपसे आद्यन्त या अनित्यहै। जबकि यह इच्छाशक्ति, सुषुप्तिकी अन्तिम अवस्थामें या निर्विकल्पसमाधिके अन्तमें अथवा महाप्रलयकी अन्तिम अवस्थाके समय ब्रह्मात्मामें प्रकट होतीहै, यही इसकी आदि उत्पत्ति या आरम्भहै। जब फिर यह प्रकृति, सुषुप्तिकी मध्य अवस्थामें या निर्विकल्पसमाधिमें या महाप्रलयकी मध्य अवस्थाके समय, अपने अस्मि, ऐसे आच्छादकपनेको त्यागकर अपने अधिष्ठान सच्चिदानंदब्रह्ममें लीनहोजातीहै—यही इस अविद्याशक्तिका अन्त विनाश अभाव या ब्रह्मात्मासे निवृत्त होजानाहै। इसीसे महाप्रलयकी अवस्थामें "सदेव" इस श्रुतिने तथा "आत्मा वा" इस श्रुतिने सच्चिदानंदको स्वगत आदि तीनभेदोंसे रहित शुद्धब्रह्म मानलियाहै। पूर्वोक्त तीन अवस्थाओंके अन्तमें अस्मि= हूं ऐसी यह अविद्याशक्ति ब्रह्ममें उत्पन्न हुई, इससे यह आदिमान्। और इन अवस्थाओंके समय यह, ब्रह्मात्मामें लीन होगई, अतः यह स्वरूपसे सान्त होगई। परन्तु वास्तवमें यह सान्त नहीं हुई। क्योंकि इन अवस्थाओंके अन्तमें यह फिर ब्रह्मसे उत्पन्न होतीहै—इसीसे यह इच्छारूपी अविद्याशक्ति प्रवाह रूपसे अनादि और अनन्तहै। विश्वकी कोईभी वस्तु, अनादि और सान्त या अन्तके सहित नहींहै। घटकी उत्पत्तिहोजानेसे मृत्तिकामें जो घट का प्रागभाव था या न होनाथा उसका नाश होगया। परंतु उसी घटके फूटकर चूर्ण होजानेसे मृत्तिकामें फिर प्रागभावकी उत्पत्ति होगई। वह प्रागभाव चाहे मृत्तिकाके किसी भी घट आदि कार्यकाहै। यह नियम नहीं कि वह घटकाही प्रागभावहो। परन्तु वह उत्पन्न होगया,

क्योंकि जिस वस्तुका नाशहै उसका जन्म अवश्यहै और जिसका जन्महै उसका नाशहोना अटलहै। इसप्रकार प्रागभावभी अनादि और सान्त नहींहै। इसलिये ब्रह्मसे विना संसारकी प्रतीतिवाली सभी वस्तुएं स्वरूपसे आदि और अन्तवालीहैं किंतु वे प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्तहै। इसीप्रकार अब कैवल्यमोक्षको लीजिये। जिस समय कोई मुमुक्षु मनुष्य, अन्य सब वृत्तियोंके व्यवधान रहित 'मैं' सच्चिदानंदब्रह्महूं ऐसी धारणा करताहै, तब यही वृत्ति, ज्ञानाग्निहोकर संचितकर्मोंका दाहकरदेतीहै, अर्थात् उन्हें दबादेतीहैं। उनको दबादेनाही उनका दाह करनाहै। फलाभिसंधी रहितहोनेसे क्रियमाणकर्मोंका उसे स्पर्श नहीं होता। तथा प्रारब्धकर्मकी भोग कर समाप्तिहोजानेसे, मैं ब्रह्महूं यह वृत्ति स्वाश्रय सच्चिदानंदब्रह्ममें लीनहोजातीहै। यही इच्छाशक्तिका अत्यन्ताभावहै या अत्यन्त निवृत्तिहै। अत्यन्ताभाव शब्दको यहां चिरकालवाची समझना चाहिये। जो महापुरुष, मायाशक्तिका तीनकालोंमेंही अभाव बतारहेहैं—उनका वह कथन, मायाके अत्यन्ताभावके अभिप्रायसे नहींहै—वे तो ऐसे वाक्योंद्वारा जिज्ञासुकेलिये माया या इच्छाशक्ति की निवृत्तिका सरल सुगम साधन बतारहेहैं। क्योंकि विश्वभरमें जिस वस्तुकीभी प्रतीति अनुभवमें आरहीहै वह अत्यन्त असत् नहींहै—इसीसे उसका अत्यन्ताभावभी नहींहै। इच्छारूपी अविद्याशक्ति तथा इसके कार्य ईश्वर जीव बन्ध और मोक्ष आदिकी सर्वसम्मत प्रतीति होरहीहै। अतः इसका अत्यन्ताभाव कहना बड़ी भूल करनीहै। अहं यह अविद्याशक्तिहै, और इसका यही रूप ब्रह्मात्माका आच्छादकहै। कोई व्यक्ति, अपने पुरुषार्थसे कुछ समय तक इसके आच्छादकरूपको आत्मासे अलग करसकताहै। परन्तु इसको इसके आश्रय ब्रह्मात्मासे दूर करनेकी न आजतक किसीकी सामर्थ्य हुई न हैं और न होवेगी। इसीलिये आचार्योंने पूर्वोक्त "अनादेः" इस श्लोकमें संसारको अनादि मानकर उसका अन्त माननेवालोंके तथा मोक्षको आदि वाला मानकर उसको अनन्त या नित्य मानने वालोंके पक्षमें असंभव दोष बतायाहै। क्योंकि इससे ब्रह्मात्मामें, अपूर्वता आजानेसे यह परिणामी विकारी और अनित्य बनजाताहै। आचार्योंने अपने पक्षमें इस दोषके निवारणार्थ "न निरोधो" ऐसे श्लोकोंद्वारा आत्मामें

वन्ध और मोक्षको परमार्थसे नहीं मानाहै अर्थात् स्वरूपसे नित्य नहीं मानाहै। कल्पित मानाहै या स्वरूपसे अनित्य मानाहै। परिशेषत: आचार्योंके ऐसे कथनका वास्तविक अर्थ यही वनताहै कि ब्रह्मात्मा, स्वरूपसे अनादि और अनन्तहै। अहं रूपा अविद्याशक्ति तथा इसका कार्य बन्ध और मोक्ष आदि, स्वरूपसे आद्यन्त या अनित्यहै। तथा यह प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्तहै। इससे ब्रह्मात्मा, नित्य निर्विकार तथा नित्यमुक्त बनारहताहै और बन्ध मोक्षकी व्यवस्थाभी निर्दोष और निर्विवाद कल्पित सिद्ध होजातीहै। इसलिये आचार्योंद्वारा 'अनादेः' ऐसे श्लोकोंमें, संसारकी अनादि और अन्तता तथा मोक्षकी आदि और अनन्तता माननेवालोंके पक्षका खंडन करना युक्तहीहै। अस्तु। ऐसेतो पूर्वोक्त युक्तियोंद्वारा कैवल्यमुक्तिसे भी पुनरावृत्ति सिद्ध होतीहै। तोभी यह पक्ष, श्रुति और शास्त्रोंको मान्य नहींहै। क्योंकि श्रुति और शास्त्र, कैवल्य मुक्तिसे कर्म तथा वासना रहित बुद्धिकी पुनरावृत्ति नहीं मानते। (इस विषयमें शास्त्रोंका गूढ़ अभिप्रायहै)। अत: श्रुति और शास्त्रोंके सम्मत, वन्ध अनित्यहै और मोक्ष नित्यहै, यही सिद्धांत उपादेयहै। अस्तु! कैवल्यमोक्षमें ही सर्वोत्तमताहै तथा वह निरपेक्षभीहै।

सापेक्ष जीवन्मुक्तियां

१—जिस समय, सच्चिदानंद जीवात्माकी बुद्धिवृत्ति, अपने अभिलषित पदार्थके दर्शन प्राप्ति और भोगद्वारा, सत्वगुणकी वृद्धिसे एकाग्र या प्रसन्नहोतीहै, तव यह जीवात्माकी जीवन्मुक्तिहै या जीतेहुए दुखनिवृत्ति और सुखकी प्राप्तिरूप मोक्षहै। २-या वह वृत्ति, सुषुप्तिकी आदि और अन्तिम अवस्थारूपी आनंदमयकोषमें एकाग्र होतीहै। ३—या वह वृत्ति, सविकल्प समाधिमें स्थिर होतीहै। ४—या जिससमय, सभी जीवोंकी बुद्धिवृत्तियां, महाप्रलयकी आदि और अन्तिम अवस्थामें एकाग्र होतीहैं तव ये समस्त जीवोंकी जीवन्मुक्तियांहैं। ५-या वह बुद्धिवृत्ति, ब्रह्मलोकमें सत्यकाम सत्यसंकल्प और अणिमा आदि रूप ब्राह्म ऐश्वर्यके भोगसे तृप्तहोतीहै, तव वह सच्चिदानंद आत्माकी जीवन्मुक्तिहै। इसप्रकार सच्चिदानन्द आत्माकी ये पांचों सापेक्ष जीवन्मुक्तियांहैं। अर्थात् एक दूसरीसे छोटी बड़ी जीवन्मुक्तियांहैं।

सापेक्ष विदेह कैवल्य मुक्तियां

१–जिससमय, सच्चिदानन्द जीवात्माकी अविद्या या सामान्य इच्छा, सुपुप्तिकी मध्य अवस्था या गाढ़ सुषुप्तिमें, स्वाश्रय सच्चिदानंदमें श्रमकी निवृत्यर्थ लीन या ब्रह्माश्रया होजातीहै–तव यह सच्चिदानन्द, ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीसे रहित निर्गुण शुद्ध अद्वैत ब्रह्म होजाताहै, यह आत्माका विदेहकैवल्यमोक्षहै, अर्थात् त्रिपुटीके अभावसे दुखनिवृत्ति पूर्वक सुखकी प्राप्ति होना मोक्षहै। २–या जव यह मनोवृत्ति, मरणके समय स्वाश्रय सच्चिदानन्दमें लीन होजातीहै, तब यह जीवात्मा त्रिपुटी-के अभावसे अद्वैतब्रह्म होजाताहै, यह विदेहकैवल्य मुक्तिहै। ३–या यह बुद्धिवृत्ति, गुरुमुखसे श्रवणकियेहुए वेदान्तवाक्योंके मनन और निदि–ध्यासनद्वारा, सूक्ष्महोकर निर्विकल्पसमाधिके समय स्वाश्रय सच्चिदानंद में लीनहोजातीहै, तव यह जीवात्मा, त्रिपुटीके अभावसे अद्वैतब्रह्म हो-जाताहै, यह जीवात्माकी विदेहकैवल्यमुक्तिहै। ४–अथवा जव ये कारण-शरीर आनन्दमयकोश या सामान्य इच्छारूपी वृत्तियां, महाप्रलयकी मध्य अवस्थाके समय स्वाश्रय सच्चिदानंदमें स्वाश्रया होजातीहैं, तव यह समस्त प्राणधारी त्रिपुटीके अभावसे स्वगत आदि भेदोंसे शून्य चतुष्पाद विशुद्ध निरपेक्ष निर्गुणब्रह्म होजाताहै, तव यह समस्त जीवोंकी विदेह-कैवल्यमुक्तिहै। सच्चिदानंद जीवात्माकी ये चारों सापेक्ष विदेहकैवल्य-मुक्तियाहैं। सापेक्ष नाम, एक दूसरीसे छोटी बड़ीकाहै। इसमें प्रमाण-ब्रह्मसूत्र अ० ३ पाद २ सूत्र ७ 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च'। शांकर-भाष्य। पंचदशीके योगानंद प्रकरणमें श्लोक ४४।४५।५६।१६। छांदोग्य-की श्रुति-'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। इन प्रमाणोंको ज्ञेयब्रह्म प्रकरणमें देखिये। और छांदोग्यके छठे अध्यायकोभी देखिये। सांख्य दर्शन अ० ५ सूत्र ११६ 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'। जीवात्मा, समाधिमें सुषुप्तिमें और मोक्षमें ब्रह्मरूप होजाताहै। ब्रह्मसूत्र अ० ३ पाद २ सूत्र १० 'मुग्धे अर्धसंपत्तिः परिशेषात्'। शांकरभाष्यका संक्षिप्त अर्थ=जीवकी चारही अवस्थाएंहैं। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और मरण। इसलिये इन्हीं चारों अव-अवस्थाओंके बीचमें, मूर्छा अवस्थाको गिनलेना चाहिये। ऐसा पूर्वपक्षहोनेपर [illegible] कहतेहैं। '[illegible]'

निः संज्ञत्वात् संपन्न इतरस्माद्वैलक्षण्यादसंपन्न इति' । अंतमें अर्ध संपत्ति मुग्धताहै हम ऐसा मानतेहैं। चेतना रहितहोनेसे संपन्नहै, और सुषुप्तिसे विलक्षणहै अतः वह असंपन्नहै। अर्थात् जीवात्मा, मूर्छा अवस्थामें आधा ब्रह्म होताहै, पूर्णब्रह्म नहीं होता। प्रिय पाठको। मैंने इस सूत्रके आधार-परही मूर्छाको सापेक्ष विदेहकैवल्यके अंतर्गत ग्रहण नहीं कियाहै।

निरपेक्ष जीवन्मुक्ति

जिससमय, जीवात्मा, सुषुप्तिकी मध्य अवस्था और निर्विकल्प-समाधि, अपनी इन दोनों अद्वैतब्रह्मरूप सापेक्ष विदेहकैवल्य अवस्थाओं-को जाग्रत् अवस्थामें अनुभवकर अपनेको अज अविनाशी नित्यानन्दरूप मानताहुआ कारणशरीरया आनंदमयकोशसे लेकर समस्त वाह्यपदार्थों-की लाभ और हानिमें अपनी लाभ हानि नहीं मानता, अर्थात् हर्ष शोक आदि द्वन्द्वोंसे ऊपर उठजाताहै-यही अवस्था जीवात्माकी निरपेक्ष जीव-न्मुक्ति अवस्थाहै। इसप्रकार अद्वैतब्रह्मरूप सापेक्ष विदेहकैवल्य मुक्तिके पीछे जीवात्माकी निरपेक्ष जीवन्मुक्ति होतीहै। निरपेक्ष नाम सबसे बड़ी जीवन नाम इसी शरीरमें, मुक्तिका अर्थहै दुखकी निवृत्ति पूर्वक सुखकी प्राप्ति होनी। जीवन्मुक्ति, विदेहकैवल्यके समीप होनेसे मुक्ति कहीजाती-है, वास्तवमें यह मुक्ति नहींहै। शांकरभाष्य-(प्रश्न) 'कथं पुनर्मुक्तस्यानेक-शरीरावेशादि'=जबकि किस करणसे किस विषयको जाने परन्तु उससे दूसरा हैही नहीं है जिसको वह जाने, इत्यादि श्रुतियां विशेषज्ञानका निवारणकरतीहैं, तब फिर मुक्तके अनेकशरीरमें प्रवेश आदिरूप ऐश्वर्यको किसप्रकार स्वीकार कियागया। 'व्यासजी' इस प्रश्नका उत्तर कहतेहैं। ब्रह्म० अ० ४ पाद ४ सूत्र १६ 'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि।' ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय रूपी विशेषज्ञानका अभाव श्रुतियोंमें कहीं पर स्वा-प्यय (सुषुप्ति) अवस्थाको लेकर कहाहै और कहीं पर संपत्ति (कैवल्य) को लेकर कहागयाहै। शांकरभाष्य=जहां पर श्रुतियोंमें इस ब्रह्म संबंधी ऐश्वर्यको वर्णन कियाहै, वह अवस्था स्वर्ग आदि के समान अन्य अवस्था है। अर्थात् वह मुक्ति नहींहै। इसीलिए श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहींहै। भामती और आनंदगिरीय व्याख्यामें हैकि, कैवल्यके समीपहोनेसे जीव-न्मुक्ति या क्रम-मुक्तिको मुक्ति कहागयाहै, वास्तवमें यह मुक्ति नहींहै। जैसे

दिनके समीपहोनेसे प्रातःकालकी लालीको दिन कहाजाताहै, वह वास्तवमें दिवस नहींहै। क्योंकि वास्तवमें दिवस सूर्योदय होनेसे ही होताहै। ऐसे ही जीवनन्मुक्ति, वास्तवमें मुक्ति नहींहै, किंतु ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि त्रिपुटीका अभावरूप कैवल्यमुक्ति ही वास्तवमें मुक्तिहै।

निरपेक्ष विदेहकैवल्यमुक्तिका अधिकारी

जिससमय, ब्रह्मनिष्ठकी मैं सच्चिदानंदब्रह्महूं ऐसी विद्यावृत्ति, स्वस्वरूप सच्चिदानंदब्रह्ममें निमग्न रहतीहुई उसकी इच्छाके विरुद्ध अन्य किसीभी संकल्पको तथा मनोराज्यको नहीं करती, उसके सर्वथाही स्वाधीन होजातीहै। अर्थात् ब्रह्मसूत्र ।४।१।१३। 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेशविनाशौ'। सूत्र १४-'इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु'। इन सूत्रोंके प्रमाणोंसे, ब्रह्मज्ञानहोनेपर पूर्व संचित्तपाप तथा पुण्यकर्मोंका नाश होजाताहै और अबके कियेजानेवाले पुण्यपापकर्मोंका ज्ञानवानको (स्वार्थ न होनेसे) संबंध नहीं होता, तब वह निरपेक्ष विदेहकैवल्यमुक्तिका अधिकारी या पात्र बनजाताहै।

अब यहां प्रश्न यह होताहैकि ब्रह्मा विष्णु और शिवजी, जोकि उच्चकोटिके देवता मानेगयेहैं-इनके जो वर्तमान शरीरहैं ये इन्हें आत्मज्ञान होजानेके अनंतर मिलेहैं अथवा आत्मज्ञानहोनेसे पहिले मिलेहैं। १—यदि ये शरीर इन्हें ज्ञानवान् होनेके अनन्तर मिलेहैं तबतो आत्मज्ञानसे विदेहकैवल्यकी प्राप्ति कहनेवाली श्रुतियां तथा ब्रह्मसूत्र ।४।१।१९। 'भोगेन' इस सूत्रके सहित पूर्वोक्त दोनों सूत्र व्यर्थ होजातेहैं। २—यदि इनको ये शरीर आत्मज्ञानसे पहिले मिलेहैं और इनको त्रिपुटीकी अभावरूपा कैवल्यमुक्तिकी कभी प्राप्तिही नहीं होतीहै तबभी इन तीनों-सूत्रोंको व्यर्थता आगईहै। इस प्रश्नका उत्तर यहहै कि इनको ये शरीर आत्मज्ञान होनेसे पहिले मिलेहैं। क्योंकि इन्होंने इन पदोंकी प्राप्तिकेलिये ही उपासना की थी। इनको ये ही पद, आत्मज्ञान होनेमें प्रति—बंधकथे। अब ज्ञानवान् होनेपरभी ब्रह्मसूत्र ।३।३।३२ 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारकाणाम्'॥ इस सूत्रके अनुसार, जितनाभी अधिकारी वर्गहै, किसीके वर या अभिशापके कारण, अनेक शरीरोंको धारणकरके भी अपने अधिकार तक बनारहेगा। अधिकार समाप्त होनेसे सबके सब

त्रिपुटीके अभाव से स्वस्वरूपावस्थानरूप विदेहकैवल्यको प्राप्त होजावेंगे। इसलिए श्रुतियों और सूत्रोंको व्यर्थता नहींहै।

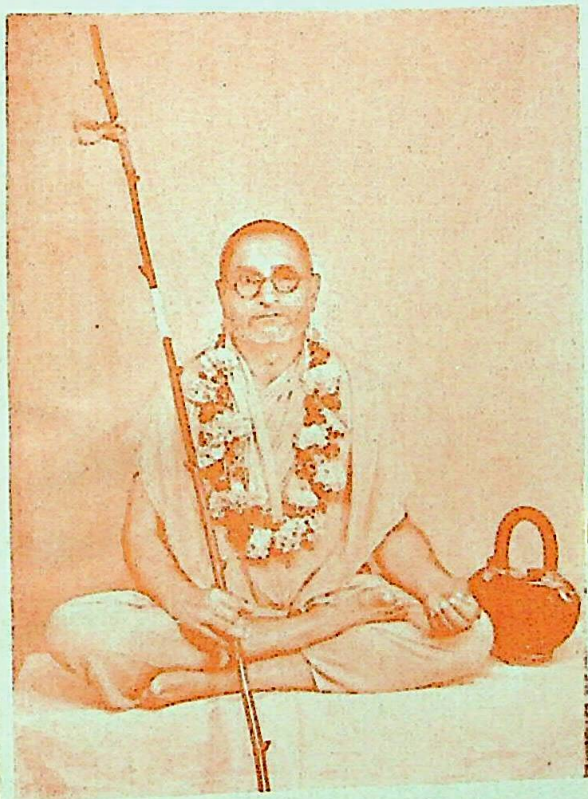
निरपेक्ष विदेहकैवल्यमुक्ति

छांदोग्य अ० ६ खंड १४ श्रुति २ "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य इति" उस ब्रह्मात्मवित्‌को (निरपेक्ष) विदेहकैवल्यकी प्राप्तिमें तबतक चिरहै जबतक वह प्रारब्धकर्मोंको भोगद्वारा समाप्त नहीं करदेता। प्रारब्धकर्म भोगकी समाप्तिके अनंतर अद्वैतब्रह्मरूप कैवल्यको प्राप्तहोताहै। ब्रह्मसूत्र अ० ४ पाद २ सूत्र १९ भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते"॥ जिन पुण्यपापरूपी कर्मोंने अपना सुखदुखरूपी फलदेना आरम्भ कियाहै उनको भोगद्वारा समाप्तकरके 'ब्रह्मात्मवित्' विदेहकैवल्यको प्राप्तहोताहै। बृहदा० अ० ४ ब्राह्मण ४ में श्रुति-"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति"। और जो संसारी कामना न करताहुआ कामना रहित निष्काम प्राप्तकाम तथा आत्माकीही कामनावालाहै उसके प्राण कहीं गमन नहीं करते (अन्य श्रुतिहै "अत्रैव समवनीयन्ते" यहांही लीनहोजातेहैं) वह ब्रह्महोताहुआही ब्रह्मको प्राप्त होताहै। इस श्रुतिके अनुसार, प्रारब्ध कर्मोंकी भोगद्वारा समाप्ति होजानेसे, प्राणोंका किसी लोक विशेषमें गमन न करके यहांही लीन होजानेपर, 'अहंब्रह्मास्मि' वृत्तिका स्वाश्रयसच्चिदानंदब्रह्ममें वासना रहित विलीन होजानाही सच्चिदानंद आत्माकी स्वस्वरूपसे स्थितिरूप निरपेक्ष विदेहकैवल्य मुक्तिहै। निरपेक्ष=सबसे बड़ी, विदेह =प्राणोंकी अत्यन्त निवृत्ति, कैवल्य=आत्माका अकेले होना, मुक्ति= दुःखकी अत्यंत निवृत्तिपूर्वक सुखरूप होजानेकाहै। यानी ब्रह्मनिष्ठका एकपाद सगुण ब्रह्मताको त्यागकर, स्वस्वरूप त्रिपाद विशुद्धनिर्गुणसच्चिदानंद ज्ञेयब्रह्मरूपसे स्थिति होना, निरपेक्ष विदेहकैवल्यमोक्षहै।

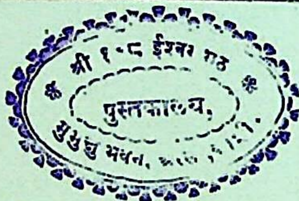
इसप्रकार वैदिकब्रह्मविचारमें ज्ञेयब्रह्म नामका आठवां प्रकरण समाप्त हुआ।

क्षितीन्दु व्योम नेत्रेऽब्दे वैक्रमे च प्लवंगमे।
माघमासे पौर्णिमायां ग्रन्थमेतत्समाप्तमोम् ॥

इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामिनारामतीर्थेनकृतं वैदिकब्रह्मविचार—पुस्तकं सम्पूर्णम्।



श्रीः १०८ दण्डी स्वामी रामतीर्थजी


श्री १०८ ईश्वर मठ
पुस्तकालय,
मुमुक्षु भवन,

मंत्र–

१. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

भगवद्गीता अ० ३ श्लोक–२६

३. न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

१. वह=सच्चिदानन्द पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्णही प्रकट होताहै, पूर्णकी पूर्णताको स्वीकार करके पूर्णही शेष रहताहै ॥

२. हे जीव–तू इस लोकमें संध्या गायत्री और अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा कर, इसप्रकार कर्म करनेसे, मनुष्यत्वका अभिमान रखनेवाले तुझमें अशुभकर्मका लेप नहीं होगा, इससे भिन्न, अशुभकर्म के लेपसे बचनेकेलिए और कोई उपाय नहीं है ॥

३. ब्रह्मज्ञानीको चाहिए कि वह, सांसारिक सुखको चाहने वाले अज्ञानियोंको वैदिककर्मसे न हटावे. प्रत्युत स्वयं अग्निहोत्र आदि कर्म करता हुआ अपने अनुयायीयों को कर्म में लगावे ॥

श्री दण्डी संन्यासी रामतीर्थजी महाराजकी बनाई हुई पुस्तकें।

नाम पुस्तक	मूल्य
१. शास्त्रीय-धर्म-दिवाकर	१–२५ नये पैसे
२. वैदिक-ब्रह्म-विचार	०–७५ नये पैसे
३. वेदोक्त नित्यकर्म	०–१५ नये पैसे
४. वेदोक्त-भक्ति-ज्ञान तथा इनका फल	०–१५ नये पैसे
५. तत्त्वमसिका अर्थ	०–२० नये पैसे
६. विचार सागर के पूर्व–अपर सिद्धान्तमें महाविरोध	
७. वैदिक—भक्तिज्ञान फलम् (संस्कृत भाषामें)	



पुस्तक प्राप्ति के स्थान :-

१. पं० अमोलकराम ज्योतिषी, मन्दिर सोनियां, पुराना बाज़ार, लुधियाना।

२. पं० रामनारायण ज्योतिषी, मन्दिर माई चौनी, चौड़ी सड़क, लुधियाना।

३. बाबूराम त्यागी, मोती बाज़ार, हरिद्वार।



मुद्रकः— मजदूर प्रिंटिंग प्रेस, छोटा दाल बाजार, लुधियाना।